सात प्रमुख कवि

सम्पादक :—

मूलराज जैन, एम० ए०, एल० एल० बी०

प्राप्ति स्थान :—

योगेन्द्रपाल खन्ना एण्ड सन्ज लिमिटेड

८१/८२ एफ, कमला नगर,

सब्जी मण्डी, दिल्ली।

द्वितीय संस्करण] [मूल्य ४)

सात प्रमुख कवि

संपादक—

मूलराज जैन, एम० ए०, एल एल बी०,

भूतपूर्व प्रिंसिपल,

जैन कालिज,

अंबाला।

द्वितीय संस्करण]

[मूल्य ४)

प्रकाशक—
साहित्य भवन,
देहली

☆

मुद्रक—
विजय प्रेस, देहली
पृष्ठ १–४८, २०६–२८८
श्री लक्ष्मी प्रिंटिंग प्रेस, देहली
पृष्ठ ४६–६६, २८६–३५२
शक्ति प्रेस, देहली
पृष्ठ ६७–२०८

प्राक्कथन

हिंदी कविता के प्रायः सभी संग्रहों में प्रारंभ से आज तक के प्रमुख कवियों की दो-दो चार-चार रचनाएं एकत्रित होती हैं। किसी २ में कविताओं के साथ उन के रचयिताओं का जीवन-परिचय एक-दो पंक्तियों से लेकर दो-एक पृष्ठों तक में भी दिया मिलता है। किंतु किसी कवि-विशेष की कविता का आलोचनात्मक परिचय देने वाले संग्रह इने-गिने ही हैं। इसी अभाव-प्राय की पूर्ति करना ही प्रस्तुत संग्रह का मुख्य उद्देश्य है।

वैसे तो आधुनिक काल में हिंदी के प्रमुख कवि अनेक हैं किंतु इस संग्रह में केवल सात कवियों को ही चुनकर, उनकी विभिन्न शैलियों की कविताएं प्रचुर संख्या में दी हैं और साथ ही उन का संक्षिप्त जीवनचरित तथा उनके काव्य की आलोचना भी सम्मिलित की गई है। कुछ वर्ष पूर्व श्री 'प्रियहंस' जी ने इसी प्रकार का एक संग्रह 'प्रमुख हिंदी कवि' नाम से उपस्थित किया था जिस का इस संग्रह के संपादन में आवश्यकतानुसार उपयोग किया गया है। अतः मैं उन का हृदय से आभारी हूं।

६, नेहरू स्ट्रीट,
कृष्णनगर, लाहौर।
२८ सितम्बर, १६४६।

मूलराज जैन

विषय-सूची

सात प्रमुख कवि

श्री पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

परिचय

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म वैशाख, कृष्ण ३, संवत् १६२२ में संयुक्त प्रांत के निजामाबाद (जिला आज़मगढ़) नामक स्थान पर हुआ। आपके पिता का नाम पं० भोलानाथ उपाध्याय था। पं० अयोध्यासिंह के पूर्वज बदायूँ के रहने वाले थे। किन्तु ढाई तीन सौ वर्षों से यह लोग तमसा नदी के किनारे निजामाबाद में आ बसे थे।

उपाध्याय जी का विद्यारंभ संस्कार ५ वर्ष की आयु में हो गया था। प्रारंभिक शिक्षा के बाद आपने तहसीली स्कूल में वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा पास की। इसके बाद अँगरेज़ी पढ़ने के लिये काशी के कीन्स कालिज में दाखिल हो गये। यहाँ कुछ ही समय तक आप पढ़ पाये थे कि अस्वस्थ हो गये

और कालिज छोड़ कर आपको घर चले आना पड़ा। कुछ दिनों बाद स्वस्थ होने पर उपाध्याय जी ने अँगरेज़ी, संस्कृत, उर्दू और फ़ारसी का ४-५ वर्ष तक खूब अभ्यास किया। घर रहते हुए ही आप निज़ामाबाद के तहसीली स्कूल में अध्यापक हो गये। संवत् १९४४ में उपाध्याय जी ने नार्मल-परीक्षा और १९४६ में कानूनगोई पास की। इसके १ वर्ष बाद आप कानूनगो हो गये। यहाँ से क्रमशः रजिस्ट्रार कानूनगो,—सदर नायब कानूनगो और गिरदावर कानूनगो आदि पदों पर उपाध्याय जी काम करते रहे। अन्त में लगभग २० वर्ष तक आप सदर कानूनगो के पद पर रहे। यहाँ से आपने अवकाश ग्रहण किया और पेन्शन पाने लगे। सरकारी नौकरी करते समय उपाध्याय जी ने बड़ी ईमानदारी और निष्पक्षभाव से कार्य किया, जिसके कारण जनसाधारण और अधिकारी वर्ग दोनों ही आपसे सदा सन्तुष्ट और प्रसन्न रहे।

सन् १९२३ में, जिस समय आपने सरकारी नौकरी समाप्त की, उस समय तक आप साहित्य क्षेत्र में पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुके थे। आपको साहित्य-शास्त्र का असाधारण पंडित तथा विचक्षण कवि देख कर श्री पं० मदनमोहन जी मालवीय ने काशी के हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी-उपाध्याय के पद पर नियुक्त कर लिया। तब से आप इसी जगह कार्य कर रहे हैं।

श्री पं० अयोध्यासिंह जी स्वभाव से सरल और अत्यन्त सज्जन व्यक्ति हैं। मिथ्याभिमान आपको छू तक नहीं गया है। आप यद्यपि सनातन-धर्मावलम्वी हैं, परन्तु अन्धपरम्परा के पक्षपाती या हानिकारक रूढ़ियों के समर्थक नहीं हैं। आपके सामाजिक विचार भी उन्नत हैं। भारत की प्राचीन सभ्यता के आप भक्त हैं। हिन्दू-जाति के वर्तमान पतन पर आप बड़े मार्मिक उद्‌गार प्रकट करते रहते हैं।

उपाध्याय जी पुराने ढर्रे के व्यक्ति हैं, रहन-सहन आपका बहुत सादा है, परन्तु विचार आपके नवीन युग के अनुकूल हैं। हिन्दू-समाज में सुधारों के आप बड़े पक्षपाती हैं। विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, विदेश-यात्रा आदि के आप समर्थक हैं। आपके इन सब विचारों की छाप आपकी कविता पर भी पड़ी है। स्वतन्त्र विचारों से ओत-प्रोत होने के कारण आपकी रचनायें समयानुकूल और लोक-प्रिय होती हैं। आपकी कवित्व-शक्ति, हिन्दी-प्रेम और साहित्य-शास्त्र के पांडित्य से प्रभावित होकर जनता ने आपको हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के दिल्ली अधिवेशन का सभापति बनाया था। इस समय तक आप दर्जनों सभा-सम्मेलनों के अध्यक्ष हो चुके हैं।

'हरिऔध' जी की कविता

पं० अयोध्यासिंह जी शुरू-शुरू में ब्रजभाषा के अन्दर

पुराने ढंग पर कवित्त-सवैया आदि लिखा करते थे। कविता की ओर आपकी रुचि उत्पन्न करने का श्रेय आपके यहाँ के एक सिख साधु को है, जिनका नाम बाबा सुमेरसिंह था। अपने व्रजभाषा-कविता-काल में अपना उपनाम आपने 'हरिऔध' रक्खा था, तब से यही नाम आपकी खड़ी बोली की रचनाओं के साथ भी जुड़ा चला आ रहा है।

'हरिऔध' जी ने व्रजभाषा में कविता लिखने के समय से ही अपनी उज्ज्वल प्रतिभा का परिचय देना शुरू कर दिया था। उस समय की आपकी कवितायें इतनी उत्तम होती थीं कि बाज़-बाज़ रचना व्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवियों की कविता से बखूबी टक्कर ले सकती थी। धीरे-धीरे समय के प्रवाह को देखते हुए आपने खड़ी बोली में कवितायें लिखनी प्रारम्भ कर दीं।

श्री पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय हिन्दी खड़ी बोली के आदिम कवियों में से हैं। हिन्दी की वर्तमान कविता का उषः काल आचार्य पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के समय से समझा जाता है। आपके समय में खड़ी बोली के अन्दर कविता करने वाला जो पहिला कवि-मण्डल मैदान में आया, श्री 'हरि-औध' जी उसके एक मुख्य सदस्य कहे जा सकते हैं।

'हरिऔध' जी कविता तो पहिले से करते ही थे, केवल उसकी भाषा का चोला आपने बदल दिया है। भाषा सम्बन्धी

ज्ञान आपका बहुत अच्छा था, इसलिए कविता के विकास में देर न लगी; और शीघ्र ही अपने समय के सब से अच्छे कवियों में आपकी गिनती होने लगी।

प्रारम्भ में आप भिन्न-भिन्न विषयों पर रचनायें लिखा करते थे, परन्तु थोड़े ही समय में आपने एक निरालापन पैदा किया; और 'चौपदे' लिखने की एक विशेष प्रणाली पर कविता करनी शुरू कर दी। 'हरिऔध' जी यद्यपि संस्कृत या व्रजभाषा के सभी प्रकार के छन्दों में एक सी सुगता के साथ कविता लिख कर दिखला सकते हैं, परन्तु 'चौपदे' आप के कुछ विशेष प्रिय छन्द हैं। 'चौपदों' में आपने लिखा भी बेतहाशा है, और इस दिशा में आप अब तक भी अपना सानी नहीं रखते। वैसे सामयिक रचनायें आप समय समय पर अब भी भिन्न भिन्न प्रकार के छन्दों में लिखते रहते हैं।

श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय पहिले कवि हैं जिन्होंने "प्रियप्रवास" नामक एक बढ़िया महाकाव्य सबसे पहिले खड़ी बोली में लिखा। इसके बाद आपके लिखे 'चौपदों' के संग्रह— 'चोखे चौपदे'—'चुभते चौपदे'—'बोलचाल' आदि नामों से प्रकाशित हुए। इनके अतिरिक्त 'हरिऔध' जी सामयिक विषयों पर और अपने ऐच्छिक विषयों पर भी पत्र-पत्रिकाओं में कवितायें लिखते रहे हैं। इन फुटकर कविताओं का संग्रह 'पद्यप्रसून' नाम से निकला है।

'हरिऔध' जी कविता के क्षेत्र में जिस प्रकार प्रसिद्ध हैं उसी तरह गद्य के भी आप धुरन्धर लेखक हैं। अब से बरसों पहिले, यह दिखला देने के लिये कि हिन्दी भाषा में से संस्कृत और फ़ारसी के शब्द निकाल देने पर भी,—केवल ठेठ-हिन्दी के शब्दों का प्रयोग करते हुये ही कोई पुस्तक लिखी जा सकती है;—आपने 'ठेठ-हिन्दी का ठाठ' नाम से एक अनोखी पुस्तक लिखी। 'अधखिला फूल' नाम का एक उपन्यास भी आपने लिखा है। अभी हाल में 'हरिऔध' जी का एक रस-सम्बन्धी नवीन ग्रन्थ 'रसकलस' नाम से प्रकाशित हुआ है। इन मौलिक पुस्तकों के अतिरिक्त आपने अनेक पुस्तकों का अनुवाद तथा सम्पादन भी किया है।

'प्रियप्रवास' महाकाव्य उपाध्याय जी की अब तक की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ है। भगवान् कृष्ण के जीवन चरित्र का एक अंश लेकर इसकी रचना की गई है। यद्यपि आज तक हिन्दी में दर्जनों सुन्दर सुन्दर काव्य निकल चुके हैं, परन्तु वर्तमान हिन्दी भाषा का सब से पहिला और सब से बड़ा 'कृष्ण काव्य' होने का गौरव 'प्रियप्रवास' को ही प्राप्त है। प्राचीन संस्कृत महाकाव्यों की मर्यादा के अनुसार यद्यपि इसमें महाकाव्य के सब लक्षण पूरे नहीं उतरते, तो भी अपने काव्य-गुण के बल पर यह 'महाकाव्य' ही माना जाता है। व्रजभाषा के मध्यकालीन काव्यों में जो परिपाटी चली

आ रही थी, उससे सर्वथा अलग ढङ्ग पर इसकी रचना हुई है। इसके नायक श्रीकृष्ण जी का चरित्र जैसा पौराणिक काव्यों में अंकित है, वैसा न रख कर, उपाध्याय जी ने उन्हें एक सच्चे महापुरुष—लोकसेवक—कर्मशील और सच्चरित्र व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है। भगवान् कृष्ण के बाल-चरित्र का वर्णन होने के साथ ही,—व्रजमण्डल पर आनेवाली आपत्तियों से वहाँ की जनता का उद्धार करनेवाले—लोक-रक्षक कृष्ण का भी उपयोगी चित्रण इस महाकाव्य में हुआ है। इसी प्रकार श्रीराधा का चरित्र भी, प्राचीन काव्यों की सी एक मात्र विरहिणी नायिका के रूप में न होकर लोक-सेवक कृष्ण की उपयुक्त प्रेयसी के रूप में हुआ है। इस ग्रन्थ के अन्य कतिपय पात्रों के चित्र भी ऐसे ढङ्ग से अंकित किये गये हैं जो पढ़ने वाले पर एक अच्छा चारित्रिक प्रभाव छोड़ जाते हैं। प्राकृतिक वर्णन इस महाकाव्य में कई जगह अनूठे हुए हैं। उनमें एकमात्र शब्दालङ्कार बाँधने की कोशिश न करके उपाध्याय जी ने स्वाभाविकता लाने की चेष्टा की है। 'प्रियप्रवास' में वात्सल्य और करुण-रस की प्रधानता है। अनेक स्थलों को पढ़ते समय पाठक के हृदय में इन रसों का यथार्थ उद्रेक होता भी है। 'विरह-वर्णन' यद्यपि व्रजभाषा के काव्यों में बहुतायत से पाया जाता है, परन्तु उपाध्याय जी ने कृष्ण जी के मथुरा चले जाने पर, उनके वियोग में उनकी माता

यशोदा और प्रेयसी राधा के हृदयोद्गारों की जो कल्पना की है वह अनूठी है। यह 'विरह-वर्णन' परम्परागत वर्णनों से निराला और हृदय पर असर करने वाला है।

'प्रियप्रवास' काव्य जिन छन्दों में लिखा गया है, वे प्राय: संस्कृत-काव्यों में प्रयुक्त किये जाने वाले छन्द हैं। इस समय तो हिन्दी-भाषा में सैंकड़ों तरह के छन्दों का चलन जारी हो गया है, परन्तु प्रारम्भ-प्रारम्भ में यह संस्कृत छन्द ही 'नये' माने जाते थे। इन छन्दों का प्रयोग भी उपाध्याय जी ने रसानुकूल ही करने की चेष्टा की है। भाषा इस महा-काव्य की खड़ी बोली है, परन्तु उपाध्याय जी ने इसमें संस्कृत के शब्दों की अधिकता रखी है। इतना ही नहीं, आपने इसकी शैली भी समासमयी—संस्कृत-भाषा की तरह की ही रखी है। उन दिनों, क्योंकि हिन्दी-कविता की शैली और भाषा अभी ठीक-ठीक निश्चित नहीं हो पायी थी, और इस बात की आवश्यकता थी कि आदर्श-रूप में कोई विशेष शैली सामने लाकर रखी जाय, इस कारण सम्भवत: उपाध्याय जी ने ऐसा किया था। परन्तु अब कविता की भाषा का रूप बहुत कुछ बदल चुका है, और आधुनिक समय में इस ढंग की संस्कृत शब्दों से भरी समासमयी रचनायें पसन्द नहीं की जातीं। फिर भी 'प्रियप्रवास' की भाषा में स्थान-स्थान पर मधुरता पाई जाती है। सब बातों को देखते हुए

'प्रियप्रवास' एक महत्वपूर्ण रचना है, और इसके द्वारा उपाध्याय जी ने अपनी नवीन सूझ तथा प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया।

'प्रियप्रवास' के बाद आपके चौपदों के संग्रह-ग्रन्थों का नम्बर आता है। यह बोलचाल की भाषा में लिखे गये हैं। इनके विषय प्रायः सामाजिक हैं। सोई हुई और निरन्तर पतन की ओर जाती हुई हिन्दू-जाति को जागरित करने के लिये उपाध्याय जी ने कुछ रचनाएँ की हैं। 'दिल के फफोले,' 'एका की कमी,' 'जी की कसक' आदि विषय लेकर आठ-आठ दस-दस चौपदों में एक एक रचना बाँधी गई है। प्रत्येक संग्रह में ऐसी ही रचनायें एकत्रित करके रखी गई हैं। इनके विषय बहुत उपयोगी हैं, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु फिर भी इन संग्रह पुस्तकों को 'काव्य' नाम देना कठिन है। इसका कारण यह है कि इनमें काव्य गुण की अपेक्षा उपदेश, धिक्कार, आक्रोश, व्यंग और ललकार की ही मुख्यता है। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि चौपदों में बढ़िया से बढ़िया मुहावरे बिठला देने का विशेष रूप से प्रयत्न किया गया है। ऐसी दशा में काव्यानन्द अनुभव होने के स्थान में एक पाठक को इन चौपदों से मुहावरों का ज्ञान अधिक अच्छा हो सकता है। इस प्रकार चौपदों के इन संग्रहों को 'काव्य' कहने की अपेक्षा 'मुहाविरा-संग्रह' कहना अधिक उपयुक्त जान

पड़ता है; और इनकी गणना 'कोष'-ग्रन्थों में बखूबी की जा सकती है। परन्तु इससे इनकी क़ीमत घटती नहीं। तीनों पुस्तकों में हज़ारों मुहाविरे एकत्रित करके उपाध्याय जी ने रख दिए हैं, तिस पर उन्हें 'छन्द' के अन्दर कसा है, साथ साथ विषय इतना उपयोगी कि जिससे देशवासियों की आंखें खुलें। इतना सब-कुछ करना मामूली बात नहीं है। कविता की दृष्टि से बहुत न सही, फिर भी इन 'चौपदों' का अपना अलग महत्व है। इन तीनों ही संग्रहों में स्थान स्थान पर मनोरम सूक्तियाँ पाई जाती हैं।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त 'पद्यप्रसून' नामक पुस्तक में उपाध्याय जी की तरह तरह की फुटकर कविताओं का संकलन है। इसमें आपकी कठिन और सरल दोनों प्रकार की भाषाओं की कवितायें संगृहीत हैं। आपके रस-सम्बन्धी नये ग्रन्थ 'रसकलस' में नौ रसों के उदाहरण-स्वरूप नये से नये उत्तमोत्तम छन्द हैं। इन सबकी रचना स्वयं 'हरिऔध' जी ने की है। इस पुस्तक की कई विशेषतायें हैं। रीतिकाल के कवियों ने शृङ्गार-रस को ऐसे कुलषित रूप में उपस्थित कर दिया था कि उससे सुरुचि-सम्पन्न पाठक को एक तरह की विरक्ति होती थी, और पढ़ने वाले के चरित्र पर बुरा असर पड़ता था। उपाध्याय जी ने इस रस के उदाहरण में, बड़े परिष्कृत और उन्नत भावों से युक्त छन्द उपस्थित किये हैं।

नायिका-भेद का विषय भी बहुत बदनाम हो चुका था, परन्तु इस ग्रंथ में उपाध्याय जी ने इस पर भी नवीन ढंग से प्रकाश डाला है, और अपनी सूझ से 'देशसेविका' नाम की नई नायिका की सृष्टि की है।

पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय की विशेषता यह है कि आपने जब जिस बात को हाथ में लिया उसे अपने ग्रन्थों में पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। यदि संस्कृतबहुल और समासमयी भाषा में रचना शुरू की तो उसका अच्छे से अच्छा रूप सामने लाकर रख दिया। समासान्त पद लिखने में हद कर दी, और दिखला दिया कि कहाँ तक संस्कृत शब्द समस्त-रूप में हिन्दी के अन्तर्गत रह सकते हैं। जब 'बोल-चाल' की भाषा में लिखने लगे तो तरह-तरह के एक से एक निराले भाव सादी भाषा में पिरो कर रख दिये। बिलकुल सुगम भाषा में आपने उत्प्रेक्षा-उपमा आदि नाना अलंकार बांध कर दिखा दिये। दर्जनों सूक्तियाँ और अन्योक्तियाँ लिख डालीं। छन्दों में, जब संस्कृत के ढंग पर लिखा तब बढ़ते बढ़ते बिलकुल संस्कृत काव्यों के समान रचना करके दिखादी। जब उर्दू की 'बहर' को पकड़ा तो सर्वसाधारण की भाषा उर्दू शैली की चुभती हुई चोजें लिखने में ग़ज़ब कर दिया।

उपाध्याय जी की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने जहाँ पुराने विषयों पर लिखा वहाँ उनमें नवीनता अवश्य

पैदा की। काव्य में यदि नायक के रूप में प्राचीन परिपाटी के अनुसार कृष्ण जी को चुना तो उन्हें भगवान् के रूप में अलौकिक न बना कर एक महान् लौकिक व्यक्ति के रूप में चित्रित किया। यदि पुराने काव्यों के अनुसार विरह वर्णन को मुख्यता दी तो उसमें भी भाव-धारा अपनी ही रक्खी।

रचनाओं के अन्दर नवीनता और 'अपनापन' बनाये रखने के कारण ही उपाध्याय जी कविता-जगत् में अपनी एक पृथक् सत्ता स्थापित कर चुके हैं, और कविता क्षेत्र में चिरकाल से अब तक खड़े रह सके हैं। 'द्विवेदी-युग' के होते हुए भी उन्होंने अपने आपको विशुद्ध रूप में सुरक्षित रक्खा है। उन्होंने प्रारम्भ से ले कर इस समय तक किसी व्यक्ति विशेष के प्रभाव में न पड़ कर पृथक् रहते हुए ही काव्य-रचना की।

श्री पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय हिन्दी-साहित्य के चोटी के कवियों में से हैं। आप गद्य और पद्य दोनों के ही सिद्ध-हस्त लेखक हैं। आपकी प्रतिभा बहुमुखी है। रस, अलंकार, पिंगल आदि काव्य का ऐसा कोई अंग नहीं जिस में आपकी अबाध गति न हो। भाषा-ज्ञान आपका अत्यन्त गहरा है। ब्रजभाषा या खड़ी बोली में समान रूप से सहज ही आप गद्य और पद्य लिख सकते हैं। कठिन या सरल, संस्कृत-शब्दमयी

या बोल-चाल की, दोनों प्रकार की शैलियों में आप एक-सी आसानी के साथ रचना करते हैं। पद्य और गद्य दोनों में भाषा-सम्बन्धी ऐसा चमत्कार अन्य कवियों की रचनाओं में नहीं देखा जाता। भाषा पर आपका जैसा पूर्ण अधिकार है, उसे आपने अपने बनाये ग्रन्थों में जगह-जगह प्रदर्शित भी खूब किया है। यही कारण है कि आपके ग्रन्थों में पाठकों को कहीं २ ऐसा मालूम पड़ता है मानो 'हरिऔध' जी भाषा के साथ खिलवाड़ कर रहे हों। इतना ही नहीं, हिन्दी की अनेक उपभाषाओं या बोलियों,—अवधी, बुन्देलखण्डी, ब्रजभाषा—आदि के भी आप अच्छे जानकार हैं।

भाषा ज्ञान ऐसा गम्भीर होने के साथ साथ श्री अयोध्यासिंह जी कवि भी ऊँचे दर्जे के हैं। आप की प्रतिभा-शक्ति का परिचय 'प्रियप्रवास' तथा अनेक स्फुट कविताओं द्वारा सहज ही प्राप्त होता है। कविताओं के विषय आपके अधिकतर सामाजिक होते हैं। हिन्दू-समाज की वर्तमान अधोगति से आपका दिल बहुत दुखा है, इसलिये आपने जाति की दुर्बलतायें दूर करने की इच्छा से अनेक चुटीली कविताएँ लिखी हैं। आप हिन्दू-जाति को जगानेवाले उद्बोधक कवि हैं। 'हरिऔध' जी कवि होने के साथ ही काव्य-मर्मज्ञ भी हैं। प्राचीन कवियों के अनेक ग्रन्थों का आपने सम्पादन किया है।

संक्षेप में यदि कहा जाय तो श्री पं० अयोध्यासिंह जी 'हरिऔध' हिन्दी-भाषा के एक वयोवृद्ध सुकवि, काव्य-मर्मज्ञ, साहित्यशास्त्र के पंडित और हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में असाधारण ज्ञान रखने वाले व्यक्ति हैं। आप हिन्दू-समाज के सच्चे हितैषी और जातीय कवि हैं। आपकी रचनायें सरल तथा कठिन दोनों प्रकार की भाषाओं में होने के कारण जन-साधारण तथा पंडित-वर्ग दोनों के ही द्वारा आदृत और प्रशंसित हैं।

———

अछूते फूल

फूल में कीट, चाँद में धब्बे,
आग में धूम, दीप में काजल;
मैल जल में, मलीनता मन में,
देख किसका गया नहीं दिल मल ।

है बुरा घास फूस वाला घर,
मल भरा तन, गरल भरा प्याला;
रिस भरी आँख, सर भरा सौदा,
मन भरा मैल, दिल कसर वाला ।

क्या रहा ताल तब भरा जल से,
जब कि उस में रहा कमल न खिला;
क्या फली डाल जो सुफल न फली
क्या खुली कोख जो न लाल मिला ।

पुल सकेगा न बंध सिवारों पर,
झुल धरा धूल दुल नहीं सकती;
धुल सकेंगे न चाँद के धब्बे,
बाँझ की कोख खुल नहीं सकती ।

जब नहीं उसने बुझाई भूख तो,
मोतियों से क्या भरी थाली रही;
जो न उसके फल किसी को मिल सके,
तो फलों से क्या लदी डाली रही।

जोत कैसे मलीन होवेगी,
क्या हुआ भूमि पर अगर फैली;
धूल से भर कभी न धूप सकी,
हो सकी चाँदनी नहीं मैली।

आम में आ सका न कड़वापन,
है मिठाई न नीम में आती;
छोड़ ऊँचा सका न ऊँचापन,
नीच की नीचता नहीं जाती।

चेतावनी

पिस रहा है आज हिन्दूपन बहुत,
हिन्दुओं में हैं बुरी रुचियाँ जगीं;
ऐ सपूतो ! तुम सपूती मत तजो,
हैं तुम्हारी ओर ही आँखें लगीं।

हो गया है क्या; समझ पड़ता नहीं,
हिन्दुओ ! ऐसी नहीं देखी कहीं;

चेतावनी

खोल करके खोलने वाले थके,
है तुम्हारी आँख खुलती ही नहीं।

हिन्दुओ! जैसी तुम्हारी है बनी,
बेबसी ऐसी बनी किसकी सगी?
जागने पर जो लगी ही सी रही,
कब किसी की आँख ऐसी है लगी।

छीजते ही जा रहे हो हिन्दुओ!
भाइयों को पाँव से अपने मसल;
है उसी का मिल रहा बदला तुम्हें,
बेतरह आँखें गई हैं क्यों बदल।

हिन्दुओ! हाथ पाँव के होते,
जब कि बेबसी है तुम्हें भाती;
तो भला क्यों न फेर में पड़ते,
दैव की आँख क्यों न फिर जाती।

फल फले बैर फूट के जिसमें,
दूध से बेलि वह गई सींची;
देख कर नीच मन तुम्हारा यह,
हिन्दुओ! आँख हो गई नीची।

है अगर जीना, जियें जीवट दिखा,
या कि अब हम मौत कुत्ते की मरें;
पिट गये जितना कि पिट सकते रहे,
अब भला रो पीट करके क्या करें।

सूझता है यह न क्या है हो रहा,
और लम्बी तान कर हैं सो रहे;
हाथ धोना सब सुखों से ही पड़ा,
क्या अजब जो आज हैं रो धो रहे।

जी लगा जाति के सुनो दुखड़े,
सच्च कहते हुए डिगो न डरो;
एक क्या लाख जोड़बन्द लगे,
बन्द तुम कान मुँह कभी न करो।

टूट जावे मगर न खुल पावे,
इस तरह से कमर कसें बाँधें;
जाति का काम साधती बेला,
दम निकल जाय पर न दम साधें।

है कसर कौन सी नहीं हम में,
है भला कौन इस तरह लुटता;

चेतावनी

जब हमीं घोट घोट देते हैं,
तब गला जाति का न क्यों घुटता।

क्यों उन्हें गोद में नहीं लेते,
क्यों गले से नहीं लगाते हो;
बेबसों पर छुरी चला करके
क्यों गले पर छुरी चलाते हो।

चाहिये कुछ दबंगपन रखना,
दब बहुत दाब में न आयें हम;
बेसबब दबदबा गँवा अपना,
जाति का क्यों गला दबायें हम।

जातिहित के बड़े अनूठे पद,
हम बड़ी ही उमंग से गावें;
अब बहुत ही बुरी ठसक वाली,
ठुमरियों की न ठोकरें खावें।

क्यों जगाये भी नहीं हो जागते,
आज दिन सारा जगत है जग गया;
लाग से ही जाति-हित गाड़ी खिंचे,
लग गया कंधा बला से लग गया।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

एक तिनका

मैं घमण्डों में भरा ऐंठा हुआ
एक दिन जब था मुँडेरे पर खड़ा,
आ अचानक दूर से उड़ता हुआ
एक तिनका आँख में मेरी पड़ा।१।

मैं झिझक उट्ठा, हुआ बेचैन सा
लाल होकर आँख भी दुखने लगी,
मूँठ देने लोग कपड़े की लगे
ऐंठ बेचारी दबे पाँवों भगी।२।

जब किसी ढब से निकल तिनका गया
तब समझ ने यों मुझे ताने दिये,
"ऐंठता तू किसलिये इतना रहा ?
एक तिनका है बहुत तेरे लिये"।३।

———

एक बूँद

[१]

ज्यों निकल कर बादलों की गोद से
थी अभी एक बूँद कुछ आगे बढ़ी,
सोचने फिर फिर यही जी में लगी
आह! क्यों घर छोड़ कर मैं यों कढ़ी ?

[२]

दैव ! मेरे भाग में है क्या बदा
मैं बचूँगी या मिलूँगी धूल में,
या जलूँगी गिर अँगारे पर किसी
चू पड़ूँगी या कमल के फूल में।

[३]

बह गई उस काल एक ऐसी हवा
वह समुन्दर ओर आई अनमनी,
एक सुन्दर सीप का मुँह था खुला
वह उसी में आ पड़ी, मोती बनी।

[४]

लोग यों ही हैं झिझकते सोचते
जब कि उनको छोड़ना पड़ता है घर,
किन्तु घर का छोड़ना अक्सर उन्हें
बूँद लौं कुछ और ही देता है कर।

कोयल

कूक करके निज रसीले कण्ठ से,
है निराला रस रगों में भर रही;
कोयले से रंग में रंगत दिखा,
हैं दिलों में कोयलें घर कर रही।

रँगबिरंगे फूल हैं फूले हुए,
हैं दिसायें रँगबिरंगी गूँजती;
चहचहा चिड़ियाँ रही हैं चाव से,
भौंर गूँजे, कोयलें हैं कूजती।

मन मरा यह दिल हुआ कुछ और ही,
कोंपलों में है छटा वैसी कहाँ;
सुन जिसे जी की कली खिलती रही,
कोयलों में कूक है ऐसी कहाँ?

देख करके दुखीजनों का दुख,
दुंद है वह मचा रही पलपल;
या किसी का कराहना सुन कर,
बेतरह है कराहती कोयल।

जो हुआ है लालसाओं का लहू,
लाल फल दल है उसी में ही रँगा;
है उसी का दर्द कोयल कूक में,
कोंपलों में है वही लोहू लगा।

क्या से क्या

धूल में धाक मिल गई सारी
रह गये शेष दाव के न पते,
अब कहाँ दबदबा हमारा है
आज हैं बात बात में दबते।

× × ×

आज बेढंग बन गये हैं वे
ढंग जिन में भरे हुए कुल थे,
बाँध सकते नहीं कमर भी वे
बाँधते जो समुद्र पर पुल थे।

× × ×

जो रहे आसमान पर उड़ते
आज उनके कतर गए हैं पर,
सिर उठाना उन्हें पहाड़ हुआ
जो उठाते पहाड़ अँगुली पर।

× × ×

हैं रहे डूबते गड़हियों में
बेतरह बार बार खा धोका,
सूखता था समुद्र देख जिन्हें
था जिन्हों ने समुद्र को सोखा।

× × ×

जो सदा मारते रहे पाला
वे पड़े टालटूल के पाले,
आज हैं गाल मारते बैठे
जंगलों के खँगालने वाले।

× × ×

तप सहारे न क्या सके कर जो
मन उन्हीं का मरा बहुत हारा,
हैं लहू घूँट आज वे पीते
पी गये थे समुद्र जो सारा।

× × ×

सब तरह आज हार वे बैठे
जो कभी थे न हारने वाले,
आप हैं अब उबर नहीं पाते
स्वर्ग के भी उबारने वाले।

× × ×

जो जगत-जाल तोड़ देते थे
तोड़ सकते वही नहीं जाला,
वे मथे मथ दही नहीं पाते
था जिन्हों ने समुद्र मथ डाला।

———

फटकार

बात चिकनी कपट की कह कर
जब कि वह जाति पर बला लावे
जब रही खींच तान में पड़ती
जीभ तब खैंच क्यों न ली जावे।

पेट की चापलूसियों में पड़
गालियाँ जो कि जाति को देवें,
चाहिये तो बिना रुके हिचके
जीभ उनकी निकाल ही लेवें।

जो कि बेढंग चल करे चौपट
चाहिये ऐंच कर उसे दम लें,
जाति की नाक कट गई जिससे
काट उस जीभ को न क्यों हम लें ?

जाति के काम जब नहीं आते
डींग हम मारते रहे तब क्या,
जब कि फटकार ही रही पड़ती
मूँछ फटकारते रहे तब क्या।

जाति के देख देख कर दुखड़े
जो न बेताब बन उसे पूछें,

रोंगटे जो खड़े न हो जावें
तो रहीं क्या खड़ी खड़ी मूछें।

जाग तब कैसे सकेंगे, ज्ञान की
जोत जी में जब कि जगती ही नहीं,
तब भला कैसे हमें जी से लगे
बात लगती जब कि लगती ही नहीं।

जाति को देख कर पड़ा दुख में
अब चलेंगे न हम मदद देने,
पड़ गये काम काइयाँपन कर
लग गये हैं जँभाइयाँ लेने।

जल गया वह मुँह न क्यों जिससे कि हम
जाति हित को भाड़ में हैं झूँकते,
मुँह छिपा लेवें, मगर मुँह पर भला
थूकने वाले न कैसे थूकते।

राह उलटी किस लिये पकड़ी गई
क्यों घुमाने से नहीं हैं घूमते,
जो अँगूठा हैं हमें दिखला रहे
क्यों अँगूठा हैं उन्हीं का चूसते?

हो सकेगा काम तो कोई नहीं
बात हित की सुन चिटक जाया करें,

फटकार

चोट जी को तो लगेगी ही नहीं
उँगलियों को बैठ चटकाया करें।

जाति-हित-रुचि जब कि जी में आ जमी
बन गई तब काहिली कैसे सगी,
लाग से लगते नहीं क्यों काम में
हाथ में तो है नहीं मेंहदी लगी।

किस तरह तब हम निरे पत्थर नहीं
चोट जी को जब कि लग पाती नहीं,
देख टुकड़ा जाति का छिनते अगर
सैंकड़ों टुकड़े हुई छाती नहीं।

देश का मुँह गया बहुत कुम्हला
किस तरह मुँह रहा खिला तेरा,
छिल रहा जाति का कलेजा है
पर कलेजा कहाँ छिला तेरा?

देश-हित देख जो नहीं पाते
जाति-हित है अगर नहीं भाता,
आँख तो फूट क्यों नहीं जाती
किस लिये बैठ जी नहीं जाता?

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

देश-हित और जाति-हित पथ में
चाव से जो नहीं सके चल वे,
तो तुरत जायँ धूल ही में मिल
जायँ गल पाँव, जायँ जल तलवे।

चोटी

(अन्योक्ति)

जो समय के साथ चल पाते नहीं
टल सकी टाले न उनकी दुख घड़ी,
छीजती छँटती उखड़ती क्यों नहीं
जब कि चोटी तू रही पीछे पड़ी!

निज बड़ों के संग बुरा बरताव कर
है नहीं किसकी हुई साँसत बड़ी,
क्यों नहीं फटकार सहती बेतरह
जब कि चोटी मूँड़ के पीछे पड़ी।

सच्ची साध

कोयलों की काली खानें,
हमें दे देवेंगी हीरा।
लाल कोई मिल जावेगा
अगर चीरेंगे हम खीरा ॥१॥

सच्ची साध

समुद्रों की उठती लहरें,
बिखेरेंगी मोती हम पर।
गले का हार जायगा बन
बादलों से बिजली गिर कर ॥२॥

मिलेगी रेगिस्तानों में
हमें सब से अच्छी छाया।
अमावस के अँधियाले में
जगमगाती होगी काया ॥३॥

कीचड़ों में मिल जावेगा,
फूल कमलों जैसा प्यारा।
रात में भटके आवेगा,
सामने आँखों के तारा ॥४॥

साँप का फन हाथों में पड़,
बनेगा फूलों का दोना।
काठ उकठा जायेगा फल
छुए। मिट्टी होगा सोना ॥५॥

मोम हो जावेगा पत्थर,
धूल बन जावेगी पारा।
साध होते सिधि पायेंगे
काम सध जावेगा सारा ॥६॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

जुगनू

पेड़ पर रात की अँधेरी में;
जुगनुओं ने पड़ाव हैं डाले।
या दिवाली मना चुड़ैलों ने,
आज हैं सैंकड़ों दिये बाले॥

हैं कभी छिपते चमकते हैं कभी,
झोंकते किस आँख में ये धूल हैं।
रात में जुगनू रहे हैं जगमगा,
या निराली बेलियों के फूल हैं॥

स्याह चादर पर अँधेरी रात की,
यह सुनहला काम किसने है किया।
जगमगाते जुगनुओं की जोत है,
या जिनों का जुगजुगाता है दिया॥

हम चमकते जुगनुओं को क्या कहें,
डालियों के ये फबीले माल हैं।
हैं अँधेरे के लिये हीरे बड़े;
रात के गोदी भरे ये लाल हैं॥

मोल होते भी बड़े अनमोल हैं,
जगमगाते रात में दोनों रहें।
लाल दमड़ी का दिया है, क्यों न तो;
जुगनुओं को लाल गुदड़ी का कहें॥

———

श्रीकृष्ण का गोकुल-गमन

१

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी - कुल - वल्लभ की प्रभा॥

२

विपिन बीच विहंगमवृन्द का,
कल निनाद विवर्धित था हुआ।
ध्वनि - मयी विविध विहगावली,
उड़ रही नभमण्डल - मध्य थी॥

३

अधिक और हुई अब लालिमा,
दश - दिशा अनुरञ्जित हो गई।
सकल - पादप - पुञ्ज हरीतिमा,
अरुणिमा विनिमज्जित सी हुई॥

४

झलकने पुलिनों पर भी लगी,
गगन के तल की यह लालिमा।
सरित औ सर के जल में पड़ी,
अरुणिमा अति ही रमणीय थी॥

५

अचल के शिखरों पर जा चढ़ी,
किरण पादप - शीश विहारिणी ।
तरणि - बिम्ब तिरोहित हो चला,
गगन मण्डल मध्य शनैः शनैः ॥

६

ध्वनि - मयी करके गिरि कन्दरा,
कलित - कानन केलि निकुञ्ज में ।
मुरलि एक बजी इस काल ही,
तरणिजा - तट - राजित कुञ्ज में ॥

७

क्वणित मञ्जु - विषाण हुए कई,
रणित शृंग हुए बहु साथ ही ।
फिर समाहित - प्रान्तर - भाग में,
सुन पड़ा स्वर धावित-धेनु का ॥

८

विपिन की छाया में वन - वीथिका,
विविध धेनु - विभूषित हो गई ।
धवल - धूसर - वत्स - समूह भी,
समुद था जिनके सँग सोहता ॥

९

जब हुई समवेत शनैः शनैः,
सहित गो - गण मण्डलि ग्वाल की।
तब चली व्रज - भूषण को लिए,
वह अलंकृत - गोकुल - ग्राम को॥

१०

गगन के तल गोरज छा गई,
दश - दिशा बहुशब्दमयी हुई।
विशद गोकुल के प्रति गेह में,
वह चला वरस्रोत विनोद का॥

११

दिन समस्त समाकुल से रहे,
सकल मानव गोकुल ग्राम के।
अब दिनान्त विलोकत ही बढ़ी,
व्रजविभूषण दर्शन - लालसा॥

१२

सुन पड़ा स्वर ज्यों कल वेणु का,
सकल ग्राम समुत्सुक हो उठा।
हृदय यन्त्र निनादित हो गया,
तुरत ही अनियन्त्रित भाव से॥

१३

त्रयवती युवती बहु - बालिका,
सकल बालक वृद्ध वयस्क भी।
विवश से निकले निज गेह से,
स्वदृग का दुख मोचन के लिये॥

१४

इधर गोकुल से जनता कढ़ी,
उमगती अति आनन्द में पगी।
उधर आ पहुँची बलवीर की,
विपुल - धेनु - विमण्डित - मण्डली॥

१५

ककुभ - शोभित गोरज बीच ले,
निकलते व्रज - वल्लभ यों लसे।
कदन ज्यों करके दिशि - कालिमा
विकसता नभ में नलिनीश है॥

—'प्रिय-प्रवास' से

यशोदा-उद्धव-संवाद

१

मेरे प्यारे सकुशल सुखी और सानन्द तो हैं?
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती?
ऊधो! छाती बदन पर है म्लानता भी नहीं तो?
हो जाती हैं हृदय-तल में तो नहीं वेदनायें?

२

मीठे मेवे मृदुल नवनी और पक्वान्न नाना,
धीरे प्यारों सहित सुत को कौन होगी खिलाती ?
प्रातः पीता सुपय कजरी गाय का चाव से था,
हा ! पाता है न अब उसको प्राण प्यारा हमारा।

३

मैं थी सारा दिवस मुख को देखते ही बिताती,
हो जाती थी व्यथित उसको म्लान जो देखती थी।
हा ! ऐसी ही अब वदन को देखती कौन होगी,
ऊधो ! माता-सदृश ममता अन्य की है न होती।

४

जो पाती हूँ कुँअर-मुख के जोग मैं भोग प्यारा,
तो होती हैं हृदय - तल में वेदनायें बड़ी ही।
जो कोई भी सुफल सुत के योग्य मैं देख पाती,
हो जाती हूँ व्यथित अति हो दग्ध होती महा हूँ।

५

प्यारा खाता रुचिर नवनी को बड़े चाव से था,
खाते-खाते पुलक पड़ता नाचता कूदता था।
ये बातें हैं सरस नवनी देख के याद आतीं,
हो जाता है मधुरतर औ स्निग्ध भी दग्धकारी।

६

हा ! वंशी जो सरस रव से विश्व को मोहती थी,
सो आले में मलिन बन औ मूक होके खड़ी है।
जो छिद्रों से अमिय बरसा मूरि थी मुग्धता की,
सो उन्मत्ता परम विकला उन्मना है बनाती।

७

प्यारे ऊधो ! सुरत करता लाल मेरी कभी है ?
क्या होता है न अब इसको ध्यान बूढ़े पिता का ?
रो रो, हो के विकल अपने बार जो हैं बिताते,
हा ! वे सीधे सरल शिशु हैं क्या नहीं याद आते ?

८

कैसे वृन्दाविपिन बिसरा क्यों लता-वेलि भूली ?
कैसे जी से उतर सिगरी कुञ्ज पुञ्जें गई हैं ?
कैसे फूले विपुल फल से नम्र भूजात भूले ?
कैसे भूला विकच तरु सो कालिंदी-कूल वाला !

९

सोती-सोती चिहुँक कर जो श्याम को है बुलाती,
ऊधो मेरी यह सदन की सारिका कान्त-कण्ठा !
पाला पोसा प्रतिदिन जिसे श्याम ने प्यार से है,
हा ! कैसे सो हृदय तल से दूर यों हो गई है।

१०

कुंजों-कुंजों प्रतिदिन जिन्हें चाव से था चराया,
जो प्यारी थी परम ब्रज के लाड़ले को सदा ही।
खिन्ना दीना विकल वन में आज जो घूमती हैं,
ऊधो! कैसे हृदय-धन को हाय वे धेनु भूलीं।

—'प्रियप्रवास' से

माता यशोदा का विलाप

प्रिय पति! वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है,
दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है!
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहाँ है॥

पल पल जिसके मैं पन्थ को देखती थी,
निशिदिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती।
उर पर जिसके है सोहती मुक्त-माला,
वह नव-नलिनी से नेत्र वाला कहाँ है॥

मुझ विजित जरा का एक आधार जो है,
वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा।
धन मुझ निधनी का लोचनों का उजाला,
सजल जलद की सी कान्ति वाला कहाँ है॥

प्रति-दिन जिसको मैं अंक में नाथ ! लेके,
निज सकल कुअंकों की क्रिया कीलती थी।
अति प्रिय जिसको है वस्त्र पीला निराला,
वह किसलय के से अंग वाला कहाँ है॥

वर वदन विलोके फुल्ल अम्भोज ऐसा,
कर तल गत होता व्योम का चन्द्रमा था।
मृदु-रव जिसका है रक्त सूखी नसों का,
वह मधु-मय-कारी मानसों का कहाँ है॥

रस-मय वचनों से नाथ ! जो सर्वदा ही,
सदन बिच बहाता स्रोत मन्दाकिनी का।
श्रुति बिच टपकाता बूँद जो था सुधा की,
वह नव-ध्वनि न्यारी मंजुता की कहाँ है॥

स्वकुल जलज का है जो समुत्फुल्लकारी,
मम परम निराशा - यामिनी का विनाशी।
व्रज-जन-विहँगों के वृन्द का मोद दाता,
वह दिनकर शोभी राम भ्राता कहाँ है॥

मुख पर जिसके है सौम्यता खेलती सी,
अनुपम जिसका हूँ शील सौजन्य पाती।
पर दुख लख के है जो समुद्विग्न होता,
वह सरलपने का स्वच्छ सोता कहाँ है॥

आँख का आँसू

निविड़ तम निराशा जो भरा गेह में था,
निज-मुख-दुति से है जो उसे ध्वंसकारी।
सुखकर जिससे है कामिनी जन्म मेरा,
वह रुचिकर चित्रों का चितेरा कहाँ है॥

सह कर कितने ही कष्ट औ संकटों को,
बहु यजन कराके पूज के निर्जरों को।
यह सुअन मिला है जो मुझे यत्न द्वारा,
प्रियतम ! वह मेरा कृष्ण प्यारा कहाँ है॥

—'प्रियप्रवास' से

आँख का आँसू

आँख का आँसू ढलकता देखकर
जी तड़प करके हमारा रह गया।
क्या गया मोती किसी का है बिखर ?
या हुआ पैदा रतन कोई नया।

× × ×

ओस की बूँदें कमल से हैं कढ़ीं
या उगलती बूँद हैं दो मछलियाँ।
या अनूठी गोलियाँ चाँदी मढ़ी
खेलती हैं खंजनों की लड़कियाँ।

× × ×

था जिगर पर जो फफोला था पड़ा
फूट कर के वह अचानक बह गया,
हाय ! था अरमान जो इतना बड़ा
आज वह कुछ बूँद बनकर रह गया।

× × ×

बात अपनी ही सुनाता है सभी
पर छिपाये भेद रहता है कहीं,
जब किसी का दिल पसीजेगा कभी
आँख से आँसू कढ़ेगा क्यों नहीं ?

× × ×

नागहानी से बचो, धीरे बहो,
है उमँगों से भरा उनका जिगर,
यों उमड़ कर आँसुओ सच्ची कहो
किस खुशी की आज लाये हो खबर।

× × ×

है यहाँ कोई नहीं धूआँ किये
लग गई मिरचें, न सरदी है हुई;
इस तरह आँसू भर आये किस लिये
आँख में ठंडी हवा क्या लग गई ?

× × ×

आँख का आँसू

देख करके और का होते भला
आँख जो बिन आग हो यों जल मरे,
दूर से आँसू उमड़ कर तो चला
पर उसे कैसे भला ठंडा करे।

× × ×

है हमारे औगुनों की भी न हद
हाय ! गरदन भी उधर फिरती नहीं,
देख कर के दूसरों का दुख दरद
आँख से दो बूँद भी गिरती नहीं।

× × ×

किस तरह का वह कलेजा है बना
जो किसी के रंज से हिलता नहीं,
आँख से आँसू छना तो क्या छना
दर्द का जिसमें पता मिलता नहीं।

× × ×

वह कलेजा हो कई टुकड़े अभी
नाम सुनकर जो पिघल जाता नहीं,
फूट जाये आँख वह जिसमें कभी
प्रेम का आँसू उमड़ आता नहीं।

× × ×

रूप में होता है सारा दिन बसर
सोचकर यह जो उमड़ आता नहीं,
आज भी रोते नहीं हम फूट कर
आँसुओं का तार लग जाता नहीं।

× × ×

बू बनावट की तनिक जिसमें न हो
चाह की छींटें नहीं जिन पर पड़ी;
प्रेम के उन आँसुओं से हे प्रभो!
यह हमारी आँख तो भीगी नहीं!!

दिल के फफोले

जिसे सूझ कर भी नहीं सूझ पाता,
नहीं बात बिगड़ी हुई जो बनाता।
फिसल कर सँभलना जिसे है न आता
नहीं पाँव उखड़े हुए जो जमाता।
पड़ेगा सुखों का उसे क्यों न लाला
सदा ही रहेगा न वह क्यों कसाला॥

२

रेंगा जो नहीं रंगतों में समय की,
नहीं राह काँटों भरी जिसने तय की।
बहुत है कँपाती जिसे बात भय की,
नहीं तान जिसने सुनी नीति नय की।
गला बे तरह क्यों न उसका फँसेगा,
उजड़ता हुआ घर न उसका बसेगा॥

३

नहीं देखता जो कि क्या हो रहा है,
न अब भी जगा जो पड़ा सो रहा है।
बुरे बीज अपने लिए बो रहा है,
बचा मान जो दिन ब दिन खो रहा है।
भला ठोकरें खायगा वह न कैसे
रसातल चला जायगा वह न कैसे !

४

न हम अड़चनों से भगाये भगेंगे,
न हम एकता-रंगतों में रँगेंगे।
नहीं काम से हम लगाये लगेंगे,
जगाये गये पर नहीं हम जगेंगे।
भला धूल में तब मिलेंगे न कैसे ?
हमारे खुले मुँह मिलेंगे न कैसे ?

५

न हित की सुनेंगे न हित की कहेंगे,
जहाँ बोलना है वहाँ चुप रहेंगे।
सहेंगे सभी की न घर की सहेंगे,
अगर कुछ मथेंगे तो पानी मथेंगे।
बुरा हाल है बेतरह आँख फूटी,
मगर फूट की बात अब भी न छूटी।

———

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

बाल

(अन्योक्ति)

वीर ऐसे दिखा पड़े न कहीं
सब बड़े आनबान साथ कटे,
जब रहे तो डटे रहे बढ़ कर
बाल भर भी कभी न बाल हटे।

नुच गये खिंच उठे, गिरे, टूटे
और झखमार अन्त में सुलझे,
कंघियों ने उन्हें बहुत झाड़ा
क्या भला बाल को मिला उलझे।

मैल अपना सके नहीं कर दूर
और रूखे बने रहे सब काल,
मुड़ गये जब कि वे सिधाई छोड़
तो हुआ ठीक मुड़ गये जो बाल।

है दुखाते बहुत, गले पड़ कर
जब उन्हें हैं सियाह दिल पाते,
है कमी भी नहीं कड़ाई में,
किस लिये बाल फिर न झड़ जाते।

वे कभी तो पड़े रहे सूखे
औ कभी तेल से रहे तर भी,
थी किसी बात की नहीं परवा
बाल ने बाल के बराबर भी।

था बरसता रहा सुखों का मेह
या अचानक पड़ा सुखों का काल,
धार से या बहुत सुधार-सुधार
बन गये या गये बनाये बाल।

निज जगह पर जमे रहे तो क्या
क्या हुआ बार बार धुल निखरे,
चल गयी पर हवा बहुत थोड़ी
जब कि ए बाल बेतरह बिखरे।

धूल में मिल गया बड़प्पन सब
था भला, थे जहां, वहीं झड़ते,
क्या यही चाहिये सिरों पर चढ़
बाल हो पांव पर गिरे पड़ते।

किस तरह हम तुम्हें कहें सीधे
जब कि हो आंख में समा गड़ते,
हो न सुथरे न चीकने सुधरे
जब कि हो बाल! तुम उखड़ पड़ते।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

कर्मवीर

देख कर बाधा विविध, बहु विघ्न घबराते नहीं,
रह भरोसे भाग के दुख भोग पछताते नहीं।
काम कितना ही कठिन हो किन्तु उकताते नहीं,
भीड़ में चंचल बने जो वीर दिखलाते नहीं।
हो गये यक आन में उनके बुरे दिन भी भले।
सब जगह सब काल में वे ही मिले फूले फले ॥

(२)

आज करना है जिसे करते उसे हैं आज ही,
सोचते कहते हैं जो कुछ कर दिखाते हैं वही।
मानते जी की हैं सुनते हैं सदा सबकी कही,
जो मदद करते हैं अपनी इस जगत में आप ही।
भूल करके दूसरों का मुँह कभी तकते नहीं,
कौन ऐसा काम है वे कर जिसे सकते नहीं ॥

३

जो कभी अपने समय को यों बिताते हैं नहीं,
काम करने की जगह बातें बनाते हैं नहीं।
आज कल करते हुए जो दिन गँवाते हैं नहीं,
यत्न करने में कभी जो जी चुराते हैं नहीं।
बात है वह कौन जो होती नहीं उनके लिए,
वे नमूना आप बन जाते हैं औरों के लिए ॥

४

व्योम को छूते हुए दुर्गम पहाड़ों के शिखर,
वे घने जंगल जहाँ रहता है तम आठों पहर।
गर्जते जल-राशि की उठती हुई ऊँची लहर,
आग की भयदायिनी फैली दिशाओं में लवर।
ये कंपा सकती कभी जिसके कलेजे को नहीं,
भूल कर भी वह कभी नाकाम रहता है नहीं।

५

चिलचिलाती धूप को जो चाँदनी देवे बना,
काम पड़ने पर करें जो शेर का भी सामना।
जो कि हंस-हंस के चबा लेते हैं लोहे का चना,
"है कठिन कुछ भी नहीं" जिनके हैं जी यह ठना।
कोस कितने ही चलें पर वे कभी थकते नहीं।
कौन-सी है गांठ जिसको खोल वे सकते नहीं॥

६

ठोकरों को वे बना देते हैं सोने की डली,
रेग को कर के दिखा देते हैं वे 'सुन्दर खली,
वे बबूलों में लगा देते हैं चम्पे की कली,
काक को भी वे सिखा देते हैं कोकिल-काकली।
ऊसरों में हैं खिला देते अनूठे वे कमल।
वे लगा देते हैं उकठे काठ में भी फूल-फल॥

७

काम को आरम्भ करके यों नहीं जो छोड़ते,
सामना करके नहीं जो भूल कर मुँह मोड़ते।
जो गगन के फूल बातों से वृथा नहिं तोड़ते,
सम्पदा मन से करोड़ों की नहीं जो जोड़ते।
बन गया होता उन्हीं के हाथ से है कारबन।
काच को करके दिखा देते हैं वे उज्ज्वल रतन॥

८

पर्वतों को काट कर सड़कें बना देते हैं वे,
सैकड़ों मरुभूमि में नदियाँ बहा देते हैं वे।
गर्भ में जलराशि के बेड़ा चला देते हैं वे,
जंगलों में भी महा-मंगल रचा देते हैं वे।
भेद नभ-तल का उन्होंने है बहुत बतला दिया।
है उन्होंने ही निकाली तार की सारी क्रिया॥

९

कार्य थल को वे कभी नहिं पूछते 'वह है कहाँ?'
कर दिखाते हैं असम्भव को वही सम्भव यहाँ।
उलझनें आकर उन्हें पड़ती हैं जितनी ही जहाँ,
वे दिखाते हैं नया उत्साह उतना ही वहाँ।
डाल देते हैं विरोधी सैकड़ों ही अड़चनें।
वे जगह से काम अपना ठीक करके ही टलें॥

कर्मवीर

१०

जो रुकावट डाल कर होवे कोई पर्वत खड़ा,
तो उसे देते हैं अपनी युक्तियों से वे उड़ा।
बीच में पड़ कर जलधि जो काम देवे गड़बड़ा,
तो बना देंगे उसे वे क्षुद्र पानी का घड़ा।
　　बन खँगालेंगे, करेंगे व्योम में बाजीगरी,
　　कुछ अजब धुन काम के करने की उनमें है भरी॥

११

सब तरह से आज जितने देश हैं फूले फले,
बुद्धि विद्या धन विभव के हैं जहाँ डेरे डले।
वे बनाने से उन्हीं के बन के इतने भले,
वे सभी हैं हाथ से ऐसे सपूतों के पले।
　　लोग जब ऐसे समय पाकर जनम लेंगे कभी,
　　देश की औ जाति की होगी भलाई भी तभी॥

श्री मैथिलीशरण गुप्त

परिचय

कविश्रेष्ठ बाबू मैथिलीशरण जी का जन्म श्रावण सुदी तीज (संवत् १६४३) को संयुक्त प्रान्त के झाँसी जिले में चिरगाँव नामक स्थान पर हुआ। आपके पिता श्रीयुत सेठ रामचरण जी कनकने गहोई वैश्य थे। आप अपने यहाँ के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से थे। सेठ जी स्वभावतः श्रीराम भक्त और काव्य-प्रेमी सज्जन थे। रामायण आदि व्रजभाषा के काव्यों का अवलोकन करते रहने के कारण आप कभी-कभी स्वयं भी कविता करते थे।

श्री मैथिलीशरण जी की प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही मातृभाषा में हुई। इसके उपरान्त ११ वर्ष की आयु में अँगरेजी पढ़ने के लिये आप झाँसी भेजे गए। पढ़ने में आप

लम्र तेज थे, पर साथ ही खिलाड़ी भी नम्बर एक के थे। पतंग उड़ाने और क्रिकेट खेलने का आप को बेहद शौक था, यहाँ तक कि यदि किसी दिन मौज आती तो इन के पीछे स्कूल से भी अनुपस्थित रह जाया करते थे। यह हालत जान कर पिता जी ने आपको वापिस बुला भेजा, और घर पर ही आपके पढ़ने की व्यवस्था की। कुछ तो संस्कारवश और कुछ काव्य-प्रेमी पिता के संसर्ग में रहने के कारण—मैथिली बाबू की प्रवृत्ति भी काव्य-रचना की ओर हुई। युक्त-प्रान्त की ग्रामीण जनता का परम प्रिय काव्य 'आल्हा' सुनने का आपको बचपन से ही शौक था। इसकी वीरता-भरी कथाओं और विजय-गौरव की गाथाओं के श्रवण से आपके हृदय पर भारत के प्रचीन वैभव की एक अमिट छाप अंकित हो गई। बाल्य-काल में ही इन्हें एक दिन अपने पिता जी की कविताओं की कापी हाथ लग गई, उसी में आपने अपना भी एक 'छप्पय' लिखकर रख दिया। इसे देख आपके पिता जी ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया कि तू किसी दिन मुझ से भी हजार गुणा अच्छी कवित करेगा। सचमुच ही अपने पितृ-चरण के उस वरदान का बाबू मैथिलीशरण जी अपने जीवन-काल में ही सुफल उपलब्ध कर रहे हैं। गुप्त जी कुल मिलाकर ५ भाई हैं, आप उन में तीसरे हैं। आपसे छोटे श्री सियारामशरण जी भी हिन्दी-संसार के एक माने हुए सुकवि हैं।

श्री मैथिलीशरण जी काव्य-रचना बचपन से ही करने लगे थे, परन्तु इनके प्रकाशित होने का अवसर तब आया जब 'सरस्वती' के ख्यातनामा सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी से आपका परिचय हुआ। 'सरस्वती' में आपकी सर्व-प्रथम कविता 'हेमन्त' नाम से प्रकाशित हुई थी। द्विवेदी जी के उत्साहित करने और उन्हीं की प्रेरणा पर आप इस क्षेत्र में निरन्तर उन्नति करते गये यह कहना अत्युक्ति पूर्ण न होगा कि आचार्य द्विवेदीजी की छत्रछाया में रहने और निरन्तर काव्य-साधना में संलग्न होने के कारण ही आज श्री मैथिलीशरण जी हिन्दी-काव्याकाश के एक उज्जवल नक्षत्र की तरह देदीप्यमान हो रहे हैं। मातृभाषा हिन्दी को सुन्दर काव्य-रत्न अर्पित करते हुए आज आप ५० वर्ष के हो चुके हैं। इसी उपलक्ष्य में भारतवर्ष-भर में आपकी स्वर्ण-जयन्ती मनाई गई है।

गुप्त जी हिन्दू-आचार विचार के तथा रामोपासक श्री वैष्णव हैं। रहन-सहन आपका अत्यन्त सादा—एक ग्रामीण की तरह का और स्वभाव अति नम्र है। आप एक निरभिमानी, किन्तु साथ ही स्वजाति तथा स्वधर्म का अभिमान रखने वाले व्यक्ति हैं। भारत की प्राचीन संस्कृति के आप कट्टर भक्त और हिन्दू-सभ्यता के पक्के हिमायती हैं। यद्यपि आप हिन्दू-धर्म के अनुयायी हैं, तो भी विचार आपके देश-काल के अनुसार खूब परिष्कृत हैं।

गुप्त जी की कविता

हिन्दी के आधुनिक-काव्य-निर्माताओं में गुप्त जी का स्थान विशेष महत्व-पूर्ण है। संख्या की दृष्टि से जितनी काव्य-कृतियां आपने प्रस्तुत कीं उतनी अन्य किसी कवि ने नहीं की। इनमें महाकाव्य, खण्ड-काव्य, पद्य-कथा, गीतिनाट्य, स्फुट संग्रह, अनूदित काव्य आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की रचनायें उपलब्ध होती हैं। आपकी कविता जनसाधारण तथा शिक्षित समुदाय दोनों के ही द्वारा प्रीति-पूर्वक अपनाई गई है।

आपकी रचनाओं में सब से पहिले 'भारत-भारती' का जनता के अन्दर बड़ा आदर हुआ। यह रचना विषय और सामयिकता की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई। इस के अब तक १८ संस्करण हो चुके हैं। इसी प्रकार आप के काव्य 'जयद्रथ-वध' के अब तक २० सस्करण निकले हैं। जितना अधिक प्रचार इस पुस्तक का हुआ, उतना अब तक खड़ी बोली के किसी काव्य का नहीं हुआ। आप के 'पंचवटी', साकेत', 'जयद्रथ-वध', 'भारत-भारती' आदि काव्य स्कूलों और कालेजों में पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में नियत हो चुके हैं। गुप्त जी ने अब तक दो दर्जन के लगभग काव्य-पुस्तकें लिखी हैं। इन के अतिरिक्त विभिन्न भाषाओं से अनेक काव्यों का अनुवाद भी किया है। प्रकाशन-काल के अनुसार आप के ग्रन्थों को निम्न क्रम दिया जा सकता है :—

'रंग में भंग' सन् १६१० में सब से पहिले प्रकाशित हुआ, उसके बाद १६१४ में "जयद्रथ-वध', १६१२ में 'पद्य-प्रबन्ध', १६१४ में 'भारत-भारती'; १६१५ में 'शकुन्तला', १६१६ में 'चन्द्रहास', 'तिलोत्तमा', 'पत्रावली', 'वैतालिक', १६१७ में 'किसान', १६२५ में 'अनघ', 'पञ्चवटी', 'स्वदेश-संगीत', १६३१ में 'साकेत' और १६३४ में 'यशोधरा'।

इनके अतिरिक्त आपके 'द्वापर' और 'सिद्धराज' नामक दो और काव्य हाल में ही प्रकाशित हुए हैं।

ऊपर लिखे गये इन सब काव्य-ग्रन्थों की यदि चर्चा की जाय तो उसके लिये एक अलग पुस्तक की आवश्यकता होगी। इस कारण आपके २—४ मुख्य काव्यों का ही संक्षेप से परिचय यहां दिया जा रहा है।

गुप्त जी के दो दर्जन से अधिक कविता-ग्रन्थों में से 'भारत-भारती' एक ऐसी पुस्तक है, जिसने उनका नाम हिन्दी-भाषी जनता के घर-घर तक पहुँचा दिया है। इसमें गुप्त जी ने हिन्दू-जाति की वर्तमान अधोगति का उल्लेख करते हुए उसके प्राचीन वैभव के दिनों का स्मरण बड़े ओजस्वी शब्दों में कराया है, साथ ही उसके उज्ज्वल भविष्य की ओर भी संकेत किया है। एक अवनत, पदाक्रांत और निर्जीव जाति में जीवन-मन्त्र फूँकने के लिये जिस स्फूर्तिप्रद और ओजस्वी-साहित्य की आवश्यकता हुआ करती है, वही इस ग्रन्थ-रत्न

के रूप में गुप्त जी ने सर्व-प्रथम प्रस्तुत किया। उपयोगिता की दृष्टि से कविता को जो महत्व मिल सकता है वह 'भारत-भारत' ने प्राप्त किया, इसमें सन्देह नहीं। यह पुस्तक एक पद्य-बद्ध रचना है। कवि ने जागृति का सन्देश देते हुए इस पुस्तक के अन्दर कविता को एक साधन-मात्र बनाया है इस लिये कविता की कसौटी पर इसे कसना सर्वथा अनावश्यक है।

प्रचार और लोकप्रियता की दृष्टि से गुप्त जी के ग्रन्थों में दूसरा नम्बर 'जयद्रथ-वध' का आता है। यह वीर और करुण-रस-प्रधान एक खण्ड-काव्य है। इसमें,—जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट होता है,—अभिमन्यु की वीरगति से लेकर जयद्रथ के वध तक का इतिहास कविता-बद्ध किया गया है। इस काव्य की भाषा संस्कृत-शब्दमयी होते हुए भी सुगम है। इसमें युद्ध और विलाप का वर्णन 'हृदयस्पर्शी' हुआ है। सम्पूर्ण काव्य में एक ही छन्द का व्यवहार किया गया है। सब मिला कर रचना अच्छी, मधुर है। इस काव्य में शृङ्गार-रस का नाम तक नहीं है, इसलिये विद्यार्थियों को पाठ्य-पुस्तकों में इसे सहज ही स्थान मिल जाता है।

गुप्त जी के लिखे हुए खण्ड-काव्यों में उनकी 'पंचवटी' सर्वोत्कृष्ट है। काव्य-गुण की दृष्टि से यह अपना सानी नहीं रखता। भगवान् रामचन्द्र जी और सीता जी के वनवास कालीन इतिवृत्त को लेकर इसकी रचना हुई है। इस काव्य

में लक्ष्मण जी का चरित्र उज्ज्वल रूप में अङ्कित हुआ है। शूर्पणखा का लक्ष्मण जी पर आसक्त होकर उनसे 'याञ्चा' करने की अद्भुत घटना को कवि ने बड़े उत्तम ढङ्ग से काव्य में सजाया है। गुप्त जी की यह कृति बड़ी सरस है, और पाठ्य-पुस्तकों में रखी गई है।

किसान' आपका एक करुण-रस-प्रधान काव्य है। यह कुली-प्रथा को लेकर रचा गया है। कथानक इस काव्य का हृदय को द्रवित कर देने वाला है।

इनके अतिरिक्त गुप्त जी ने महाभारत और पुराणों की छोटी-छोटी घटनायें लेकर उन पर अनेक पद्य-कथायें लिखी हैं, जो 'सैरन्ध्री', वन वैभव' 'वक संहार', 'शक्ति', 'शकुन्तला' आदि नामों से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई हैं। यह सब पुस्तकें सुरुचि-जनक और काव्यानन्द प्रदान करने वाली हैं। बालक भी इन्हें अच्छे चाव से पढ़ते हैं।

गुप्त जी हिन्दू-जाति के तो एक-मात्र जातीय कवि हैं। आपने वर्तमान हिन्दू-समाज के छिद्रों और उसकी अवनति के मूल कारणों पर गहरी दृष्टि डालते हुए, उत्थान-मूलक हिन्दू' नाम से एक और काव्य लिखा है। जिस दृष्टि से 'भारत-भारती' लिखी गई थी, लगभग उसी दृष्टि से यह भी लिखा गया है; परन्तु रचना में यह एक भिन्न ही चीज़ है। इसका छन्द 'कहरवा' के ढङ्ग पर रखा गया है, जो सहज-गेय

होने से साधारण जनता की ज़बान पर जल्दी चढ़ सकता है।

राष्ट्रीय उत्थान की भावनाओं से प्रेरित होकर ही गुप्त जी ने 'वैतालिक' नाम से एक और छोटा-सा काव्य रचा है। यह एक प्राभातिक 'वन्दी-गान' है, जो सोई हुई जाति को जागरित करने के लिये सरल छन्द में रचा गया है। यह रचना नन्हीं-सी है, परन्तु अत्यन्त मधुर है। गुप्त जी की पुस्तकों में इसकी कोमल-कान्त-पदावली सर्वश्रेष्ठ है।

इसी प्रकार अन्य अनेक काव्यों के अतिरिक्त, गुप्त जी की निरंतर १०-१५ वर्ष की काव्य-साधना के फल-स्वरूप 'साकेत' नाम से एक महाकाव्य प्रकाशित हुआ है। यह खड़ी बोली का सर्वश्रेष्ठ 'राम-काव्य' माना जाता है। इस में रामचन्द्र जी के राज्याभिषेक से लेकर उनके वन से लौट आने तक के इतिहास के आधार पर,—१२ सर्गों में सुन्दर कविता लिखी गई है। इस महाकाव्य का विषय यद्यपि प्राचीन है तो भी,—भाव, भाषा, छन्द, चरित्रचित्रण, वर्णन-शैली आदि की दृष्टि से यह एक सर्वथा नवीन और उत्कृष्ट रचना है। इसमें श्रीराम और जानकी का चरित्र तो नये और विलक्षण ढङ्ग पर अङ्कित किया ही गया है, साथ-ही-साथ, लक्ष्मण उर्मिला, भरत आदि अनेक ऐसे पात्रों का भी जीते-जागते रूप में चरित्र-चित्रण है, जिनके सुख-दुःख के संबंध में इतिहास और अब तक के कवि सर्वथा मौन रहे हैं। वहाँ

तक ही नहीं,—कैकेयी जैसी अवमानिता पात्री भी गुप्त जी के काव्य-कौशल के बल पर पाठकों की सहानुभूति की पात्री बन जाती है। इस महाकाव्य के अन्दर—लक्ष्मण जी के वियोग में दुःखिनी उर्मिला का विलाप—एक हृदयस्पर्शी स्थल है। इसके अतिरिक्त, सीता जी की वनवास-काल की दिनचर्या, युद्धकथा, भरत का तपस्या-पूर्वक राज्य-संचालन आदि एक से एक निराले और आनन्द देने वाले स्थल इसमें विद्यमान हैं। इस महाकाव्य में रसानुकूल विविध पुरातन और नवीन छन्दों के अतिरिक्त अनेक नये-नये गीतों की रचना गुप्त जी ने की है।

'यशोधरा' और 'अनघ' नामक दो काव्य गुप्त जी ने भगवान बुद्ध के उज्ज्वल चरित्र को लेकर रचे हैं। इन में 'यशोधरा' उनकी पत्नी के नाम पर प्रस्तुत हुआ है और 'अनघ' के अन्दर भगवान् बुद्ध के अनेक अवतारों में से एक अवतार का वर्णन है। 'यशोधरा' अत्यन्त करुण-काव्य है। इसके अन्दर, अनन्त काल के लिए गृह-त्याग कर देने वाले गौतम बुद्ध की पत्नी की चिर-वियोग-कथा बड़े मार्मिक ढंग पर अंकित हुई है। 'गुरुकुल'-नामक एक काव्य गुप्त जी ने सिखों के इतिहास के आधार पर लिखा है। सिख-जाति के बलिदानों और वीरता की गाथा इसमें बड़े ओजस्वी शब्दों में अंकित की गई है। इन सब काव्यों के अतिरिक्त

श्री मैथिलीशरण जी समय-समय पर अनेक स्फुट कवितायें लिखते रहे हैं। इनके संग्रह 'पद्य-प्रबन्ध', 'स्वदेश संगीत' और 'झङ्कार' नाम से निकाले हैं। 'झङ्कार' आपकी सम्पूर्ण पुस्तकों के अन्दर विशेष महत्व रखता है। गुप्त जी के अधिकांश काव्य-साहित्य में हमें गहन अनुभूति की अपेक्षा बौद्धिक प्रेरणा के अधिक दर्शन होते हैं। परन्तु 'झङ्कार' में आपकी आधुनिक ऐसी कविताओं का संकलन है जो हृदय को स्पन्दित करती हैं। जिनके मूल में उपयोगिता का आदर्श नहीं है। जो आत्मानुभूति के आधार पर स्वयं ही प्रादुर्भूत हुई हैं। इस संग्रह की रचनायें 'भाव-प्रधान' हैं।

श्री मैथिलीशरण जी गुप्त क्रमशः पद्य-लेखक, काव्य-रचयिता और महाकाव्य-प्रणेता के रूप में हिन्दी-जगत के अन्दर उत्तरोत्तर उच्च स्थान पर आरूढ़ होते गये हैं। यदि आपके सम्पूर्ण काव्य-साहित्य पर एक सरसरी दृष्टि डाली जाय तो उसमें मुख्यतः दो धारायें पृथक-पृथक स्पष्ट मालूम पड़ती हैं। प्रथम वह काव्य-धारा जो स्वजाति और स्वदेश की अधोगति से दुःखित और विह्वल-हृदय कवि के द्वारा प्रस्तुत की गई रचनाओं से बनी है। 'भारत-भारती', 'हिन्दू', 'वैतालिक', 'स्वदेशसंगीत', 'किसान' आदि ग्रन्थ इसी काव्य-धारा के अन्तर्गत हैं। दूसरी धारा वह है जो आर्यावर्त और हिन्दू-जाति के प्राचीन वैभव की यशोमयी गाथाओं के अवलोकन

के उपरान्त, —गर्वस्फीत-हृदय होकर कवि द्वारा लिखे गये काव्यों से निर्मित होती है। इसमें साकेत, यशोधरा, पञ्चवटी, जयद्रथवध, गुरुकुल, शकुन्तला, तिलोत्तमा आदि सम्मिलित हैं। गुप्त जी भारत देश और आर्य-जाति के कवि हैं। आपने जहाँ एक ओर जाति के पतन पर आँसू बहाते हुए उस के निष्प्राण शरीर में जान डालने के लिए शङ्खनाद किया है, वहाँ दूसरी तरफ प्राचीन पुरुखाओं के वैभव और उनकी शौर्य-गाथाओं को भी अपनी काव्य-वीणा में मधुर स्वर से गाया है। निरुद्देश्य भाव से, केवल अपने विनोद के लिये, गुप्त बहुत ही कम लिखा है। आपने लिये—एक-मात्र आत्म-परितोष के लिये—न होकर उनकी कविता जाति-मात्र के लिये हुई है। यही कारण है कि हिन्दू-समाज और हिन्दू-जाति में जितना व्यापक परिचय, आदर और प्रेम-भाव गुप्त जी के लिये है उतना अन्य किसी कवि के प्रति नहीं पाया जाता।

गुप्त जी का साहित्य प्रेरक है। उसमें उपदेश, उद्‌बोधन और ललकार सभी कुछ मौजूद है। किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी उनकी रचनाओं में काव्य-गुण की कमी नहीं। साकेत, पंचवटी, वैतालिक, झंकार आदि से उनकी प्रतिभा का परिचय मिलता है।

गुप्त जी की कविता पर आर्य-संस्कृति की छाप स्पष्ट

रूप से ... ती है। उन्होंने सदा विशुद्ध भाव ही कविता के अन्दर गूँथे हैं। शृङ्गार-रस में भी ऐसी सात्विक और पवित्र भावनायें गुप्त जी भरते हैं कि उस में अश्लीलता या अपवित्रता की छाया तक नहीं आने पाती। गुप्त जी की एक भी कृति के अन्दर—चरित्र को पतन की ओर ले जाने वाले वासना-चित्र दिखाई नहीं देते। आर्य संस्कृति का विशेष गुण 'मर्यादा-पालन' गुप्त जी की रचनाओं में पद-पद पर लक्षित होता है। पति-पत्नी, देवर-भौजाई आदि किन्हीं भी सम्बन्धियों के संवाद हों, सदा संयत रूप में दिखाई देंगे। उनकी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं तक में कोई मलिनता नहीं पाई जाती।

कविता के अन्दर विचार सर्वथा सुलझे हुए और स्पष्ट रूप में रखना गुप्त जी का एक अन्य गुण है। प्रत्येक बात को उतनी ही गहराई तक उन्होंने चित्रित करने का यत्न किया है, जहाँ तक उसे स्पष्टता-पूर्वक पहिले स्वयं समझ-बूझ लिया है। कोई विवादास्पद बात खींच कर उन्होंने कविता के अन्दर नहीं ठूँसी। यही कारण है कि गुप्त जी की कविता दिमाग और हृदय दोनों के द्वारा स्वीकृत होती हुई प्रभाव डालने वाली होती है।

बाबू मैथिलीशरण जी ने हिन्दी-भाषा को जो काव्य-साहित्य अर्पित किया है वह अनेक दृष्टियों से बहुत महत्व

रखता है। यदि आपके इन सब कविता-ग्रन्थों को हिन्दी से अलग कर दिया जाय तो मौलिक काव्यों की गिनी-चुनी संख्या ही शेष रह जाती है। भिन्न-भिन्न कवियों की केवल स्फुट कविताओं के संग्रहों से किसी भाषा को वह गौरव प्राप्त नहीं होता जो खण्ड-काव्यों और महाकाव्यों से उपलब्ध होता है। यह काव्य, भाषा की चिरस्थायी और ठोस सम्पत्ति के समान होते हैं। हिन्दी-भाषा को ऐसी ठोस सम्पत्ति सब से अधिक अब तक गुप्त जी ने ही अर्पित की, इसमें सन्देह नहीं। गुप्त जी के यह सब काव्य नवयुवक छात्रों और काव्य-प्रेमी साहित्यिक व्यक्तियों द्वारा बड़ी रुचि के साथ पढ़े जाते हैं। आपके 'भारत-वासी'-जैसे काव्य तो साधारण ग्रामीण जनता तक पहुँच चुके हैं। इस बात से यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि हिन्दू-जाति की नवीन सन्तति में उदात्त भावनाओं का संचार करने, तथा जन साधारण के अन्दर राष्ट्रीय भावना जागरित करने में गुप्त जी के साहित्य ने कितना महत्व-पूर्ण कार्य किया है।

बाबू मैथिलीशरण जी में, समय की गति को देखकर, नवीन विचार-धारा के साथ सामञ्जस्य स्थापित करते हुए, काव्य उत्पन्न करने की अद्भुत क्षमता है। आपके उद्बोधन-मूलक जातीय काव्यों को देखते हुए यह सन्देह होता था कि

शायद आप अन्य अनेक कवियों की भांति समय-विशेष के 'प्रतिनिधि-कवि' बन कर ही रह जायेंगे। परन्तु आपके साकेत, यशोधरा आदि महाकाव्यों ने इस अशंका को मिथ्या सिद्ध कर दिया है। इतना ही नहीं, कविवर मैथली बाबू की वर्तमान स्फुट कवितायें तो हिन्दी की अभिनव काव्य-धारा की उज्ज्वलतम कृतियों के रूप में हमारे सामने आ रही हैं। आपकी इन रचनाओं में 'विचार' और 'भाव' उपयुक्त अनुपात में लक्षित होते हैं। इनमें यद्यपि तीव्र अनुभूति की उपलब्धि नहीं होती, तो भी अनेक स्थलों पर मनोहर 'संकेत' एवं गूढ़ 'रहस्यभाव' पाये जाते हैं। जिनके कारण रचना ईषत् 'अवगुंठित'-सी हो कर मनोहारिणी बन जाती है। गुप्त जी की आधुनिक सभी रचनाओं की भाषा प्रसाद-पूर्ण होती है।

कविवर मैथिलीशरण जी की सभी रचनायें वर्तमान हिन्दी (खड़ी बोली) में लिखी गई हैं। आपकी भाषा शुद्ध और परिमार्जित होती है। प्रारम्भ से ही आपकी भाषा के अन्दर संस्कृत-शब्दों की अधिकता रही है। इसी लिये आपकी अनेक कवितायें—विशेषतः प्रारम्भ काल की—पढ़ते-पढ़ते, पाठक को जहां-तहां कोष देखने की आवश्यकता पड़ जाती है। इतना ही नहीं, छन्द के अन्दर तुक मिलाने समय तो गुप्त जी क्लिष्टसेक्लिष्ट शब्द का प्रयोग भी निर्भयता

पूर्वक कर देते हैं । ऐसा करने में कहीं-कहीं कविता में भद्दापन तक आ जाता है । इस दोष से गुप्त जी के महाकाव्य भी नहीं बच सके हैं । गुप्त जी के वर्तमान काव्यों की भाषा अपेक्षया सरल है । उसमें जहाँ-तहाँ बोलचाल के मुहाविरे भी ठीक ठीक बैठाये गये हैं । परन्तु आपकी पहिले की कविता पुस्तकों की भाषा ऐसी मँजी हुई और प्रवाह-पूर्ण नहीं है । यद्यपि उस में संस्कृत-शब्दों के उपयुक्त विन्यास के कारण मधुरता प्रतीत होती है, तो भी उसमें एक प्रकार का 'खड़ापन' मौजूद है । व्याकरण की दृष्टि से गुप्त जी की भाषा शुद्ध रहती है ।

श्री मैथिलीशरण जी की मौलिक कृतियों का ऊपर परिचय दिया जा चुका है । आपकी कविता और भाषा की भी चर्चा कर दी गई है : किन्तु इतने से ही गुप्त जी की साहित्य-सेवा समाप्त नहीं हो जाती । आपने उत्तमोत्तम मौलिक काव्य लिखने के साथ ही साथ 'मधुप' नाम से विविध भाषाओं के अनेक काव्य-रत्नों का अनुवाद भी हिन्दी में किया है ।

बंगाल के विख्यात कवि माइकेल मधुसूदनदत्त के तीन श्रेष्ठ काव्यों का आपने—'विरहिणी व्रजांगना', 'वीरांगना' और 'मेघनाद-वध' नामों से सुन्दर अनुवाद किया है । इसी प्रकार नवीनचन्द्र राय के बँगला काव्य का-'पलाशी का युद्ध' इस नाम से आपने कविता-बद्ध अनुवाद प्रस्तुत किया है । गुप्त जी के इन अनुवाद-काव्यों की हिन्दी-जगत् में बहुत प्रशंसा

हुई है। यद्यपि अनुवाद में मूल के पूरे गुण नहीं उतर पाते तो भी इन काव्यों के सम्बन्ध में अनेक श्रेष्ठ आलोचकों की राय यह है कि इनमें मूल ग्रन्थों की अपेक्षा भी मधुरता अधिक है। बँगला के अतिरिक्त संस्कृत-भाषा के प्रसिद्ध नाटककार महाकवि 'भास' के स्वप्नवासवदत्ता का भी आपने हिन्दी में अनुवाद किया है। फारसी के विश्वविख्यात कवि उमरखय्याम की रुबाइयों का भी अँगरेजी-भाषा से आपने सरस अनुवाद किया है, इसका नयनाभिराम सचित्र संस्करण प्रकाशित हो चुका है।

संक्षेप में श्री मैथिलीशरण जी गुप्त हिन्दी-भाषा के यशस्वी कवि हैं। आपने दर्जनों मौलिक काव्य और अनेक अनुवाद-काव्य मातृभाषा को अर्पित किये हैं। आप भारतीय सभ्यताभिमानी तथा हिन्दू-जाति के परम शुभ-चिन्तक कवि हैं, आपकी रचनायें मधुर, काव्य गुणयुक्त, शिक्षाप्रद और उत्तम विचार देने वाली होती हैं। आपने हिन्दू-जाति को, उसकी वर्तमान अधोगति से उठाने वाले और उसकी पतन-निद्रा छुड़ा कर उसे जागृति और उत्थान का सन्देश देने वाले, उत्तमोत्तम ओजस्वी काव्यों की रचना की है। आपकी भाषा, व्रजभाषा के प्रभाव से सर्वथा रहित होती है। उसमें मधुरता तथा पद-लालित्य होने के साथ ही व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटि भी नहीं पाई जाती

उद्बोधन

श्री श्रीराम कृष्ण के भक्त
रह सकते हैं कभी अशक्त ?
दुर्बल हो तुम क्यों हे तात !
उठो हिन्दुओ ! हुआ प्रभात।

× × ×

हे हिन्दू तुम हो क्यों हीन ?
क्यों हो दलित, दुखी, अति दीन ?
क्यों तुम हो यों आज हताश ?
क्यों यह पराधीनता—पाश ?

× × ×

हो कर ऋषियों को सन्तान
सहते हो तुम क्यों अपमान ?
अपने को भूले हो आप,
पाते हो सौ सौ सन्ताप।

× × ×

वह यश, वह प्रताप, वह तेज,
सज्जन शान्तिमय सुख की सेज,

वह निर्भय निश्चय, वह त्याग
वह संयम वह विषय-विराग ।

× × ×

वह साधन, वह अध्यवसाय
नहीं रहा हममें अब हाय !
इसी लिये अपना यह ह्रास
चारों ओर त्रास ही त्रास ।

× × ×

तुम हो उनकी ही सन्तान
बने कि जिनके विश्व-विधान ।
खोजे गूढ़ जिन्होंने तत्व,
पाया है उज्वल अमरत्व ।

× × ×

किसके पूर्वज थे वे लोग
किये जिन्होंने अद्भुत योग ?
दिये दिव्य सन्देश उदार
जाग उठा जिनसे संसार ?

× × ×

तुम में है उनका ही रक्त
जो थे सच्चे शूर सशक्त,
जिनका बल विक्रम उत्साह
था अथाह ज्यों महाप्रवाह ।

× × ×

उद्बोधन

याद करो निज वीर्य विलुप्त
कहो कौन थे 'मौर्य' कि 'गुप्त' ?
थे जिनके साम्राज्य विशाल
स्वस्थ स्वतन्त्र मालामाल ।

× × ×

भूमण्डल भर में अनिवार्य
बजा तुम्हारा डंका आर्य !
अपने धर्मदण्ड का छत्र
छाया करता था सर्वत्र !

× × ×

सीता रामोत्सव को हर्ष
रखता है ज्यों भारतवर्ष
अमरीका भी स्वयं सगर्व
कभी मनाता था वह पर्व ।

× + ×

दे कर सबको प्रथम प्रकाश
किया सभ्यता का सुविकाश ।
सुना सुना कर शास्त्र पुराण
किया सदा सबका कल्याण ।

विश्व-बन्धुता का वर्तात
और परम करुणा का भाव,
फैलाया तुमने सब ओर;
बढ़ा विश्व, धन-धर्म बटोर।

\+ + +

तप कर कर पाये जो तत्व
सुख के और शान्ति के सत्व,
फैलाये तुमने सब ओर।
पाया जिधर जहां तक छोर।

\+ + +

प्रिय था तुम का धर्म-प्रचार,
किन्तु नहीं लेकर हथियार।
उठते थे जब अपने हाथ,
अभयाश्वासन के ही साथ।

\+ + +

बजे आज पश्चिम का तूर्य
डूबा जहां पूर्व का सूर्य,
किन्तु उदय की आशा नित्य
दिखला रहा हमें आदित्य।

\+ + +

उद्बोधन

न हो, बन्धु-गण, न हो निराश
शून्य नहीं निज भाग्याकाश.
अब भी शीतल नहीं कृशानु
उदित पूर्व ही में है भानु।

× × ×

बहुत वर्ष हो बीते आज,
तब भी तो तुम जीते आज,
किन्तु जिया तो गौरव-युक्त
और मरो तो हो कर मुक्त।

× × ×

नहीं रहा है वह उत्कर्ष
विगत हुए हैं सौ सौ वर्ष।
पर खोलो यदि नयन निमेष
तो साधन हैं अब भी शेष।

× × ×

वही उर्वरा धरा उदार
वही सिन्धु बहु रत्नागार,
वही देश जिसकी है ख्याति,
और वही है अपनी जाति।

× × ×

वही हिमालय, विन्ध्य विशाल,
सुख-दुख के साथी चिरकाल।
वही सुनिर्मल जल-प्रवाह,
कूल-किनारे अपने आह!

× × ×

वही सिन्धु सरयू के तीर
गंगा-यमुना के कल नीर।
वही अखिल अन्नों के खेत,
खानें बहु मणि-धातु-निकेत।

× × ×

वही पञ्चनद राजस्थान
प्राप्त जिन्हें हैं गौरव मान।
वही बिहार, उड़ीसा, बंग,
हैं अक्षय भारत के अंग।

× × ×

अब भी है अपना नैपाल
किये हुए निज उन्नत भाल,
अब भी धन्य गोरखा वीर
राजपूत, सिख, जाट, अहीर!

× × ×

उद्बोधन

धारण करो ऐक्य अनुराग
जायँ तुम्हारे सब भय भाग।
भारत है ऐसा भू - भाग
पद पद पर है जहाँ प्रयाग।

\+ + +

छोड़ परस्पर वैर - विवाद
करो आर्यगण अपनी याद।
तुम निराश क्यों हो इस भाँति
सोचो, पाप कटें किस भाँति।

\+ + +

औरों से मिल मिल कर मन्द
बन कर अमीचन्द जयचन्द।
किया हमीं ने अपना नाश
पहिना पराधीनता - पाश!

\+ + +

खो बैठे अपना घर - बार
लुटे हाय! हम बारम्बार।
आज हमारा है यह हाल,
हम हैं दीन, दास, कंगाल!

\+ + +

मैथिलीशरण गुप्त

अब भी चेतो न हो उदास,
चेता रहा तुम्हें इतिहास।
रक्खो हिन्दूपन का गर्व
यहीं लक्ष्य के साधन सर्व।

\+ + +

हिन्दू, निज संस्कृत का त्राण
करो, भले ही दे दो प्राण,
कठिन काल में भी कुल मान
रक्खा, तुमने दे दी जान!

\+ + +

वीर शिवाजी बाजीराव,
रख कर कहो कौन सा भाव।
करते थे किसका विस्तार?
हिन्दू-पद का करो विचार।

\+ + +

चम्पत, छत्रसाल अरिकाल
बने हिन्दुवाने की ढाल,
गुरु गोविन्द, और रणजीत
रखते थे निज भाव पुनीत।

\+ + +

उद्बोधन

'बढ़े धर्म-हिन्दू' यह छन्द
गाया है किसने सानन्द ?
चिड़ियों से पिटवाये बाज
रक्खी निज गुरुता की लाज ।
\+ + +
वे छोटे बच्चे निरुपाय
चुने गये जीते जी हाय
स्वीकृत किया न किन्तु विधर्म
था यह किस संस्कृति का मर्म ?
\+ + +
जैन, बौद्ध, सिख, वैष्णव, शैव,
हिन्दू कौन रहा फिर ? दैव !
न हो न हो हे हिन्दू ! खिन्न,
सब अभिन्न हैं मत हो भिन्न ।
\+ + +
आओ अब हो जाओ एक
एक प्राण का हो उद्रेक ।
हों कितने ही अपने अंग
पर सब में हो एक उमंग ।
\+ + +

हे अपार हिन्दू संसार !
तेरा एक-एक तिथिवार
रखता है सौ-सौ इतिहास,
उद्यत हो, तू न हो उदास !

— 'हिन्दू' से

बनवास में सीता जी का गान

अञ्चल पर कटि में खोंस, कछोटा मारे,
सीता माता का थीं आज नई छवि धारे !

× × ×

भौंरों से भूषित कल्प-लता-सी फूली,
गाती थीं गुन गुन गान भाव-सा भूली:—
"निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

× × ×

सम्राट स्वयं प्राणेश, सचिव देवर हैं,
देते आकर आशीष हमें मुनिवर हैं।
धन तुच्छ यहां—यद्यपि असंख्य आकर हैं,
पानी, पीते मृग-सिंह एक तट पर हैं।
सीता-रानी को यहां लाभ ही लाया;
मेरी कुटिया में राज-भवन मनभाया।

× × ×

वनवास में सीता जी का गान

क्या सुन्दर लता वितान तना है मेरा,
पुंजाकृति गुञ्जित कुञ्ज घटना घना है मेरा।
जल-निर्मल, पवन पराग-सना है मेरा,
गढ़ चित्रकूट दृढ़ दिव्य बना है मेरा।

प्रहरी निर्झर, परिखा प्रवाह की काया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मनभाया।

\+ + +

किसलय-कर स्वागत-हेतु हिला करते हैं,
मृदु मनोभाव-सम सुमन खिला करते हैं।
डाली में नव फल नित्य मिला करते हैं,
तृण तृण पर मुक्ता-भार झिला करते हैं।

निधि खोले दिखला रही प्रकृति निज माया,
मेरी कुटिया में राज भवन मनभाया

\+ + +

फल फूलों से हैं लदी डालियां मेरी,
वे हरि पतलें, भरी थालियां मेरी,
मुनि बालायें हैं यहां आलियां मेरी,
तटिनी की लहरें और तालियां मेरी।

क्रीड़ा-सामग्री बनी स्वयं निज छाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मनभाया।

\+ + +

नाचो मयूर नाचो कपोत के जोड़े,
नाचो कुरंग, तुम लो उड़ान के तोड़े,
गावो दिवि, चातक, चटक, भृंग भय छोड़े।
वैदेही के बनवास वर्ष हैं थोड़े।
तितली तूने यह कहां चित्रपट पाया
मेरी कुटिया में राज-भवन मनभाया।
+ + +

ओ निर्झर ! झरझर नाद सुनाकर झड़ तू,
पथ के रोड़ों से उलझ-सुलझ, बढ़ अड़ तू।
ओ उत्तरीय, उड़, मोदप-योद घुमड़ तू;
हम पर गिरि-गद्गद्-भाव सदैव उमड़ तू।
जीवन को तूने गीत बनाया, गाया
मेरी कुटिया में राज-भवन मनभाया,

—'साकेत' से

वन से घर लौट चलने के लिये केकयी का रामचन्द्र जी से अनुरोध

—"यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को"—
चौंके सब सुनकर अटल केकयी-स्वर को।
सबने रानी को ओर अचानक देखा,
वैधव्य-तुषारावृता यथा विधुलेखा।

बैठी थी अचल तथापि असंख्य-तरंग,
वह सिंही अब थी हहा ! गोमुखी गंगा—
—"हाँ, जन कर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुनलें,—तुमने स्वयं अभी यह माना।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भय्या,
अपराधिन मैं हूं तात, तुम्हारी मैय्या।

\+ + +

यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ,
तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ।
ठहरो, मत रोको मुझे, कहूं सो सुनलो,
पाओ यदि उसमें सार उसे सब चुनलो।
करके पहाड़ सा पाप मौन रह जाऊँ ?
राई भर भी अनुताप न करने पाऊँ ?"
(थी सनक्षत्र शशि-निशा ओस टपकाती,
रोती थी नीरव सभा हृदय थपकाती।
उल्का सी रानी दिशा दीप्त करती थी;
सब में भय-विस्मय और खेद भरती थी;)
—"क्या कर सकती थी, मरी मन्थरा दासी,
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी।

\+ + +

थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके ?

छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझ से,
हे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझ से ?

\+ \+ \+

युग-युग तक चलती रहे कठोर-कहानी,—
'रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।'
निज जन्म-जन्म में सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।'

\+ \+ \+

"हा लाल ?—उसे भी आज गँवाया मैंने,
विकराल कुयश ही यहाँ कमाया मैंने।
निज स्वर्ग उसी पर वार दिया था मैंने,
हर तुम तक से अधिकार लिया था मैंने।
पर वही आज यह दीन हुआ रोता है,
शँकित सबसे, धृत हरिण-तुल्य होता है।
श्रीखण्ड आज अंगार-चण्ड है मेरा,
फिर इससे बढ़कर कौन दण्ड है मेरा ?

\+ \+ \+

पटके मैंने पद-पाणि मोह के मद में,
जन क्या-क्या करते नहीं स्वप्न में, मद में ?

हा ! दण्ड कौन, क्या उसे डरूँगी अब भी ?
मेरा विचार कुछ दया-पूर्ण हो तब भी।

\+ \+ ÷

सह सकती हूं चिर-नरक, सुनें सुविचारी,
पर मुझे स्वर्ग की दया दण्ड से भारी।
लेकर अपना यह कुलिश-कठोर कलेजा,
मैंने इसके ही लिये तुम्हें वन भेजा।
घर चलो इसी के लिये, न रूठो अब यों,
कुछ और कहूं तो उसे सुनेंगे सब क्यों ?
मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे,
मेरे दुगने प्रिय रहो न मुझ से न्यारे।
मैं इसे न जानूँ, किन्तु जानते हो तुम,
अपने से पहिले इसे मानते हो तुम।
तुम भ्राताओं का प्रेम परस्पर जैसा,
यदि वह सब पर यों प्रकट हुआ है वैसा।
तो पाप-दोष भी पुण्य-तोष है मेरा,
मैं रहूं पंकिला, पद्म-कोष है मेरा।
आगत ज्ञानी-जन उच्च भाल ले लेकर,
समझायें तुमको अतुल युक्तियाँ देकर।
मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा,
उसने फिर तुमको आज भुजा भर भेटा।

÷ ÷ ÷

छल किया भाग्य ने मुझे अयश देने का।
बल दिया उसी ने भूल मान लेने का।
अब कटे सभी वे पाश नाश के प्रेरे,
मैं वही केकयी, वही राम तुम मेरे।

\+ ÷ ÷

क्या स्वाभिमान रखती, न केकयी रानी?
बतलादे कोई मुझे उच्च कुल-मानी?
सहती कोई अपमान तुम्हारी अम्बा?
पर हाय, आज वह हुई निपट नालम्बा।
मैं सहज मानिनी रही, वही क्षत्राणी,
इस कारण सीखी नहीं दैन्य यह वाणी?
यह पराधीन हो गया आज मन मेरा,
भावज्ञ! सहेजो तुम्हीं भाव-धन मेरा।
समुचित ही मुझको विश्व-घृणा ने घेरा?
समझाता कौन सशान्ति मुझे भ्रम मेरा?
यों ही तुम वन को गये, देव सुरपुर को;
मैं बैठी ही रह गई लिये इस घर को!
बुझ गई पिता की चिता भरत-भुज धारी;
पितृ भूमि आज भी तप्त तथापि तुम्हारी।
भय और शोक सब दूर उड़ाओ उसका,
चल कर सुचरित! फिर हृदय जुड़ाओ उसका।

हो तुम्हीं भरत के राज्य, स्वराज्य संभालो,
मैं पाल सकी न स्वधर्म, उसे तुम पालो !
स्वामी को जीतेजी न दे सकी सुख मैं,
मर कर तो उनको दिखा सकूँ यह मुख मैं।
मर मिटना भी है एक हमारी क्रीड़ा,
पर भरत-वाक्य है—सहूँ विश्व की व्रीड़ा।
जीवन नाटक का अन्त कठिन है मेरा,
प्रस्ताव मात्र में जहां अधैर्य अन्धेरा।
अनुशासन ही था मुझे अभी तक आता,
करती है तुम से विनय आज यह माता।

— साकेत' से

उष:काल

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
किन्तु समझो रात का जाना हुआ।
क्योंकि उसके अङ्ग पीले पड़ चले
रम्य-रत्नाभरण ढीले पड़ चले।
एक राज्य न हो, बहुत से हों जहां,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहां।
बहुत तारे थे, अन्धेरा कब मिटा ?
सूर्य का आना सुना जब, तब मिटा,

नींद के भी पैर हैं कँपने लगे।
देख लो, लोचन-कुमुद झँपने लगे,
वेष-भूषा साज ऊषा आ गई;
मुख-कमल पर मुस्कराहट छा गई।
पक्षियों की चहचहाहट हो उठी,
चेतना की अधिक आहट हो उठी।
स्वप्न के जो रंग थे वे घुल उठे,
प्राणियों के नेत्र कुछ २ खुल उठे।
दीप-कुल की ज्योति निष्प्रभ हो निरी,
रह गई अब एक घेरे में घिरी।
किन्तु दिन कर आ रहा क्या सोच है?
उचित ही हो गुरुजन निकट संकोच है
हिम-कणों ने है जिसे शीतल किया,
और सौरभ ने जिसे नव बल दिया।
प्रेम से पागल पवन चलने लगा,
सुमन-रज सर्वांग में मलने लगा।
प्यार से अंचल पसार हरा-भरा,
तारकायें खींच लाई है धरा।
निरख रत्न हरे गये निज कोष के,-
शून्य रंग दिखा रहा है रोष के।

उषःकाल

ठौर-ठौर प्रभातियाँ होने लगीं,
अलसता की ग्लानियाँ धोने लगी।
कौन भैरव राग कहता है इसे,
श्रुति-पुटों से प्राण पीते हैं जिसे ?
दीखते थे रंग जो धूमिल अभी,
हो गये हैं अब यथायथ वे सभी।
सूर्य के रथ में अरुण हय जुत गये,
लोक के घर-द्वार ज्यों लिप-पुत गये।
सजग जन-जीवन उठा विश्रान्त हो,
मरण जिसको देख जड़-सा भ्रान्त हो।
दधि-विलोडन शास्त्र-मंथन सब कहीं,
पुलक-पूरित तृप्त तन-मन सब कहीं।
खुल गया प्राची दिशा का द्वार है,
गगन-सागर में उठा क्या ज्वार है !
पूर्व के ही भाग्य का यह भाग है,
या नियति का राग-पूर्ण सुहाग है !

'साकेत'

मैथिलीशरण गुप्त

बाल-बोध

वह बाल-बोध था मेरा।

निराकार निर्लेप भाव में, भान हुआ जब तेरा।

तेरी मधुर-मूर्ति, मृदुममता, रहती नहीं कहीं निज समता!
करुण कटाक्षों की वह क्षमता, फिर जिधर भव फेरा;
अरे सूक्ष्म! तुझ में विराट ने, डाल दिया है डेरा।
वह बाल-बोध था मेरा।

पहिले एक अजन्मा जाना, फिर बहु रूपों में पहिचाना,
वे अवतार चरित नव नाना, चित्त हुआ चिर चेरा;
निर्गुण, तू तो अखिल गुणों का, निकला वास बसेरा।
वह बाल-बोध था मेरा।

डरता था मैं तुझ से स्वामी, किन्तु सखा था तू सहगामी,
मैं भी हूं अब क्रीड़ा-कामी, मिटाने लगा अँधेरा।
दूर समझता था मैं तुझको, तुम समीप हँस हेरा।
वह बाल-बोध था मेरा।

अब भी एक प्रश्न था—'कोऽहं'? कहूं कहूं जब तक 'दासोऽहं'!
तन्मयता कह उठी कि 'सोऽहं'। बस हो गया सवेरा।
दिन मणि के ऊपर उसकी हो, किरणों का है घेरा।
वह बाल-बोध था मेरा।

कहानी

(बुद्ध के पुत्र राहुल का माता यशोधरा से अनुरोध)

"कहानी है मुझमें यह चेटी—
तू मेरी नानी की बेटी!
कह मां, कह लेटी-ही-लेटी
राजा था या रानी ?
राजा था या रानी
मा, कह एक कहानी।"

"तू है हठी मान-धन मेरे।
सुन, —उपवन में बड़े सवेरे,
घूम रहे थे पितृ-पद तेरे,
जहां सुरभि मनमानी"
—"जहां सुरभि मनमानी ?
हां मां, यही कहानी।"

'वर्ण-वर्ण के फूल खिले थे।
झलमल कर हिम-बिंदु मिले थे,
हल के झोंके हिले मिले थे,
लहराता था पानी।"
—"लहराता था पानी ?
हां हां यही कहानी।"

"गाते थे खग कल-कल स्वर से,
सहसा एक हंस ऊपर से
गिरा, विद्ध होकर खर खर शर से
हुई पक्ष की हानी।"
—"हुई पक्ष की हानी?
करुणा भरी कहानी!"

"चौंक उन्होंने उसे उठाया,
नया जन्म सा उसने पाया।
इतने में आखेटक आया
लक्ष्य-सिद्धि का मानी?
—"लक्ष्य-सिद्धि का मानी?
कोमल-कठिन कहानी।"

बोला उसने आहत पक्षी
तेरे तात किन्तु थे रक्षी,
तब उसने, जो था खगभक्षी
हठ करने की ठानी।"
—"हठ करने की ठानी?
अब बढ़ चली कहानी।"

कहानी

"हुआ विवाद सदय निर्दय में,
उभय आग्रही थे स्वविषय में
गई बात तब न्यायालय में
सुनी सभी ने जानी।"
—"सुनी सभी ने जानी ?
व्यापक हुई कहानी।"

"राहुल ! तू निर्णय कर इसका
न्याय पक्ष लेता है किसका ?
कह दे निर्भय जय हो जिसका
सुन लूं तेरी बान।"
—"माँ मेरी क्या बानी ?
मैं सुन रहा कहानी।

कोई निरपराध को मारे,
तो क्यों अन्य उसे न उबारे ?
रक्षक पर भक्षक को वारे
न्याय दया का दानी।"
—"न्याय दया का दानी'?
तू ने गुनी कहानी।"

['यशोधरा' से]

मैथिलीशरण गुप्त

अभिमन्यु का पराक्रम

—तब सप्त रथियों ने वहाँ रत हो महादुष्कर्म में,
मिलकर किया आरम्भ उसको विद्ध करना मर्म में।
कृप, कर्ण, दुःशासन, शकुनि, सुत-युतद्रोण भी,
उस एक बालक को लगे वे मारने बहुविध सभी।

अर्जुन-तनय अभिमन्यु तोभी अचल सम अविचल रहा,
उन सप्त रथियों का वहीं आघात सब उसने सहा।
पर एक साथ प्रहारकर्ता हों चतुर्दश कर जहां,
युग कर कहो, क्या-क्या यथायथ कर सकें विक्रम वहां।

कुछ देर में जब रिपु शरों से अश्व उसके गिर पड़े,
तब कूद कर रथ से चला वह थे जहां वे सब खड़े।
जब तक शरीरागार में रहते जरा भी प्राण हैं;
करते समर से वीर जन पीछे कभी न प्रयाण हैं।
फिर नृत्य-सा करता हुआ धन्वा लिए निज हाथ में,
लड़ने लगा निर्भय वहां वह शूरता के साथ में।
था यदपि अन्तिम दृश्य यह उसके अलौकिक कर्म का,
पर मुख्य परिचय भी यही था वीरजन के धर्म का।
होता प्रविष्ट मृगेन्द्र-शावक ज्यों गजेन्द्र-समूह में;
करने लगा वह शौर्य्य त्यों उन वैरियों के व्यूह में।

तब छोड़ते कोदण्ड से सब ओर चण्ड शरावली,
मार्तण्ड-मण्डल के उदय की छवि मिली उसको भली।

यों विकट विक्रम देख उसका धैर्य रिपु खोने लगे,
उसके भयंकर वेग से अस्थिर सभी होने लगे।
अतएव उनको युद्ध से विचलित विशेष विचार के,
कहने लगा वह बुद्धवर वाणी विशुद्ध पुकार के।

"मैं एक, तुम बहु सहचरों से युक्त विश्रुत सात हो,
एकत्र फिर अन्याय से करते सभी आघात हो!
होते विमुख तो भी अहो! झिलता न मेरा वार है,
तुम वीर कैसे हो, तुम्हें धिक्कार सौ सौ बार है।"

उस शूर के सुन यह वचन बोला सुयोधन आप यों—
"है काल अब तेरे निकट, करता अनर्थ प्रलाप क्यों?
जैसे बने निज वैरियों के प्राण हरना चाहिए,
निज मार्ग निष्कंटक सदा सब भांति करना चाहिये।"

"यह वचन तेरे योग्य ही है" प्रथम यों उत्तर दिया,
खर-तर-शरों से फिर उसे अभिमन्यु ने मूर्छित किया।
उस समय ही जो पार्श्व से छोड़ा गया था तान के
उस कर्ण-शर ने चाप उसका काट डाला आन के।

तब खींचकर खर-खड्ग फिर वह रत हुआ रिपनाश में,
चमकी प्रलय की बिजलियाँ घन-घोर समराकाश में।
पर हाय ! वह आलोक-मण्डल अल्प ही मण्डित हुआ,
वञ्चक विपक्षी वृन्द से वह खड्ग भी खण्डित हुआ।

यों रिक्त-हस्त हुआ वहाँ वह वीर रिपु-संघात में,
घुसने लगे सब शत्रुओं के बाण उसके गात में।
वह पाण्डु-वंश-प्रदीप यों शोभित हुआ उस काल में—
सुन्दर सुमन ज्यों पड़ गया हो कण्टकों के जाल में।

संग्राम में निज शत्रुओं की देखकर यों नीचता,
कहनेलगा वह यों वचन दृग-युग करों से मीचता।
"निःशस्त्र पर तुम वीर बनकर वार करते हो अहो,
है पाप तुम को देखना भी, पामरो ! सम्मुख न हो।

"दो शस्त्र पहिले तुम मुझे, फिर युद्ध सब मुझसे करो,
यों स्वार्थ-साधन के लिये मत पाप-पथ में पद धरो।
कुछ प्राण-भिक्षा मैं न तुम से माँगता हूं भीति से,
बस शस्त्र ही मैं चाहता हूं धर्म-पूर्वक नीति से।

कर में मुझे तुम शस्त्र देकर फिर दिखाओ वीरता,
देखूं यहाँ फिर मैं तुम्हारी धीरता, गम्भीरता।

हो सात क्या सौ भी रहो, तो भी रुलाऊं मैं तुम्हें,
कर पूर्ण रण-लिप्सा अभी क्षण में सुलाऊं मैं तुम्हें ॥

निःशस्त्र पर आघात करना सर्वथा अन्याय है,
स्वीकार करता बात यह सब सूर-जन समुदाय है।
पर जान कर भी हा ! इसे आती न तुमको लाज है।
होता कलङ्कित आज तुमसे शूरवीर समाज है ॥

हैं नीच ये सब शूर पर आचार्य ! तुम आचार्य हो,
बर वीर विद्या-विज्ञ मेरे तात-शिक्षक आर्य्य हो।
फिर आज इन के साथ तुमसे हो रहा जो कर्म्म है,
मैं पूछता हूं, वीर का रण में यही क्या धर्म्म है ?

यह सत्य है कि अधर्म्म से मैं निहत होता हूं अभी,
पर शीघ्र इस दुष्कर्म का तुम दण्ड पाओगे सभी।
क्रोधाग्नि ऐसी पाण्डवों की प्रज्वलित होगी यहाँ,
तुम शीघ्र जिसमें भस्म होगे तूल-तुल्य जहाँ तहाँ ॥

मैं तो अमर होकर यहां अब शीघ्र सुरपुर को चला,
पर याद रक्खो, पाप का होता नहीं है फल भला।
तुम और मेरे अन्य रिपु पामर कहावेंगे सभी,
सुन कर चरित मेरा सदा आंसू बहावेंगे सभी ॥

हे तात ! हे मातुल ! जहाँ हो है प्रणाम तुम्हें वहीं
अभिमन्यु का इस भाँति मरना भूल मत जाना कहीं"
कहता हुआ वह वीर यों रण-भूमि में फिर गिर पड़ा,
हो भङ्ग शृङ्ग सुमेरु गिरि का गिर पड़ा हो ज्यों बड़ा ॥

इस भांति उसको भूमि पर देखा पतित होते यदा,
दुःशील दुःशासन-तनय ने शीश में मारी गदा ?
दृग बन्द कर तब वह यशोधन सर्वदा को सो गया ॥
हा ! एक अनुपम रत्न मानो मेदिनी का खो गया ॥

['जयद्रथ वध' से]

शूर्पणखा की दुर्दशा

सचमुच विस्मय पूर्वक सब ने
देखा निज समक्ष तत्काल—
वह अति रम्य रूप पल भर में
सहसा बना विकट विकराल !

सब ने मृदु मारुत का दारुण
झंझा - नर्तन देखा था;
सन्ध्या के उपरान्त तमी का
विकृतावर्तन देखा था ।

शूर्पणखा की दुर्दशा

काल-कीट कृत वयस-कुसुम का
क्रम से कर्तन देखा था,
किन्तु किसी ने अकस्मात कब
यह परिवर्तन देखा था!

गोल कपोल पलट कर सहसा
बने भिड़ों के छत्तों-से,
हिलने लगे उष्ण साँसों से
ओंठ लपालप लत्तों-से!

कुन्दकली-से दाँत हो गये
बढ़ वराह की डाढ़ों-से,
विकृत, भयानक और रौद्र रस
प्रकटे पूरी बाढ़ों से!

जहाँ लाल साड़ी थी तनु में
बना चर्म का चीर वहाँ,
हुए अस्थियों के आभूषण
थे मणि-मुक्ता-हीर जहाँ!

कन्धों पर के बड़े बाल वे
बने अहो आँतों के जाल,
फूलों की वह वरमाला भी
हुई मुण्डमाला सुविशाल!

हो सकते थे दो द्रुमाद्रि ही
उसके दीर्घ शरीर - सखा,
देख नखों को ही जंचती थी
वह विलक्षणी शूर्पणखा !
भय - विस्मय से उसे जानकी
देख न तो हिल - डोल सकीं,
और न जड़ प्रतिमा-सी वे कुछ
रुद्ध कण्ठ से बोल सकीं ॥

अग्रज और अनुज दोनों ने
तनिक परस्पर अवलोका,
प्रभु ने फिर सीता को रोका,
लक्ष्मण ने उसको टोका ।
सीता संभल गईं जो देखी
रामचन्द्र की मृदु मुस्कान,
शूर्पणखा से बोले लक्ष्मण
सावधान कर उसे सुजान—
"मायाविनि, उस रम्य रूप का
था क्या बस परिणाम यही ?
इसी भांति लोगों को छलना,
है क्या तेरा काम यही ?

शूर्पणखा की दुर्दशा

विकृत परन्तु प्रकृत परिचय से
डरा सकेगी तू न हमें,
अबला फिर भी अबला ही है,
हरा सकेगी तू न हमें।

बाह्य सृष्टि - सुन्दरता है क्या
भीतर से ऐसी ही हाय!
जो हो, 'समझ मुझे भी प्रस्तुत,
करता हूं मैं वही उपाय।
किंतु न फिर छल सके किसी को,
मारूं तो क्या, नारी जान,
विकलाङ्गी ही तुझे करूंगा,
जिससे छिप न सके पहचान!"

यों कह कर लक्ष्मण ने क्षण में
लेकर शोणित तीक्ष्ण कृपाण,
नाक - कान काटे कुटिला के
लिये न उसके पापी प्राण।
और कुरूपा होर तब वह
रुधिर बहाती; बिलखाती,
धूल उड़ाती आँधी ऐसी
भगी वहां से चिल्लाती!

मैथिलीशरण गुप्त

गूंजा किया देर तक इसका
हा - हाकार वहां फिर भी,
हुई उदास विदेहनन्दिनी
आतुर एवं अस्थिर भी।

होने लगी हृदय में उनके
वह आतङ्कमयी शङ्का,
मिट्टी में मिल गई अंत में
जिससे सोने की लङ्का!

"हुआ आज अपशकुन सवेरे,
कोई सङ्कट पड़े न हा!
कुशल करे कर्तार" उन्होंने
लेकर एक उसाँस कहा।

लक्ष्मण ने समझाया उनको—
"आर्यें, तुम निःशङ्क रहो,
इस अनुचर के रहते तुम को
किसका डर है, तुम्हीं कहो?"

['पंचवटी' से]

नारद

हरि:ओ३म्, पर इसके आगे ?
शान्ति ? नहीं हो, शान्ति नहीं ?
शान्ति अन्त में आप आयगी,
व्यर्थ जन्म जो क्रान्ति नहीं।

लोक एक नाटक है प्रभु का
शोक रहे या हर्ष रहे,
जिसमें अपना स्वाँग सफल हो
यहाँ एक संघर्ष रहे।

वह तो एक धूलि कण में भी
कहते हैं अस्तित्व जिसे,
शुष्क पत्र सा उड़ते जाना
जीना कहते नहीं इसे।

जीवन में भी जब जीवन हो
तब सजीवता है जन की
नहीं प्रवाह-मार्ग में गति है,
उठें तरंगें भी मन की।

मैथिलीशरण गुप्त

अपने प्रभु का कान लगा जन
विदित विनोद-विशारद मैं,
पुत्रों से निश्चिन्त सदा को,
पितर जनों का नारद मैं।

वृद्ध पिता का सुस्थिर यौवन,
नहीं नहीं, चिर-शैशव मैं,
चिर-चंचल क्रीडा कौतुक-मय
और नित्य ही नव-नव मैं।

वादी-संवादी स्वर लेकर
सीधा सभी गजाते हैं,
पर प्रतिवादी स्वर भी मेरी
वीणा में बज जाते हैं।

बिना विषादी के विनोद क्या,
बस प्रयोग सर्वत्र बड़ा
बने भैरवी भी मृदु मधुरा,
मेरा माध्यम रहे कड़ा।

एक पुरुष को छोड़, प्रकृति की
परवशाता सब में हेरी,
चोरी न करे चोर किन्तु क्या
छोड़ेगा हेरा-फेरी ?

नारद

मुझे प्रणाम करे तो वह भी
शुभाशीष मुझ से पावे
पर यह अच्छा नहीं धनाधिप
जो सोता ही रह जावे!

आह्लादों के साथ भले ही
आवे क्यों न विषाद कहीं,
मेरे इस वसुधा-कुटुम्ब में
आ न जाय अवसाद कहीं।

कौशल दिखला सकते हैं हम
कठिनाई में पड़कर ही
बने विजेता और बड़े सो
बाधाओं से लड़कर ही

जिसमें पापी के पापों का
घट झट - झट से भर जावे,
पृथ्वी और स्वयं पापी भी
चट - पट परित्राण पावे।

कर देता हूं यथाशक्ति कुछ
योग उपस्थित हैं ऐसे,
कर दूं अन्तर्दयादृष्टि से
देखा अनदेखा कैसे?

मैथिलीशरण गुप्त

बिगड़े का सुधार करने से
बढ़ कर कोई कार्य नहीं,
क्या वाल्मीकि समान व्यक्ति का
नारद ही आचार्य नहीं ?
किन्तु उसे उपदेश व्यर्थ है
जो विनाश से बाध्य हुआ,
तूर्ण-मरण ही मंगल उसका
जिसका रोग असाध्य हुआ।
अरे ! आग भी कभी लगानी
पड़ जाती है हमें यहाँ,
कूड़ा कर्कट ही न अन्यथा
भर जावे फिर जहाँ-तहाँ।

आग लगा कर हमीं दौड़ते
पानी की झाड़ी को भी,
कटा खेत जलता – जलता जो
जला न दे बाड़ी को भी।
पानी है तो बरसेगा ही
है जो आग, लगेगी ही,
जो समीर है, सरसेगा ही
है जो ज्योति, जगेगी ही।

नारद

सीमा का वह द्वन्द्व अहा हा !

इस असीम के ही नीचे,

नारद तो निर्द्वन्द्व जायगा

पर क्या ये आँखें मीचे ?

देख रहा हूं चाल काल की

मैं क्यों उसमें आप फँसूँ ?

भीतर से रोना आता है

बाहर से ही क्यों न हंसूं !

वह अलज्ज जिसके हंसने में

कोई रोना छिपा न हो,

हास मूल, परिहास फूल, उप-

हास धूल, भूलो न अहो !

जीवन से न खेल, अथवा यदि

जीवन खेल नहीं तो फिर ?

किन्तु खेल में भी तुलना का

मिले न मेल कहीं तो फिर ?

पड़ती रहे हमीं पर दाई,

यह भी कोई खेल भला ?

सँभल खिलाड़ी, आज तुझे मैं

दौड़ाने की ठान चला।

मैथिलीशरण गुप्त

देवि देवकी एक बार फिर
तुझे कष्ट करना होगा,
वही क्रूर का कारागृह माँ
फिर तुझको भरना होगा।
वेणु और व्रजबालाओं में
तेरा नट नागर भूला।
मुझे क्षमा कर, जाता हूं मैं
कंस निकट फूला-फूला।

['द्वापर' से,]

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

परिचय

कविश्रेष्ठ श्रीयुत जयशंकर जी 'प्रसाद' का जन्म माघ शुक्ल दसमी, संवत् १९१६ को काशी नगर में हुआ। आपके पिता बाबू देवीप्रसाद जी वैश्य बनारस में तमाकू तथा उससे बनी हुई चीज़ों के प्रसिद्ध व्यापारी थे। बाबू जयशंकर जी ने बचपन से हिन्दी और संस्कृत पढ़ना शुरू किया। आरंभिक शिक्षा के बाद आप बनारस के क्वीन्स कॉलेजियेट् स्कूल में दाखिल हुए, किन्तु अभी मिडिल तक ही पढ़ पाये थे कि अचानक इनके पिता जी का देहान्त हो गया और आपको स्कूल छोड़ देना पड़ा। इसके पश्चात आपने घर पर ही शिक्षक रखकर संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी आदि की उच्च शिक्षा प्राप्त की। इस समय तक सारे परिवार का तथा घर के पुश्तैनी

कारोबार का बोझ आपके बड़े भाई सम्हाले हुये थे, किन्तु बाबू जयशंकर जी जब १७ वर्ष के हुए तभी उनका भी देहान्त हो गया, और व्यवसाय तथा गृहस्थी की देख-भाल का कुल भार आपके कन्धों पर आ पड़ा। बाबू जयशंकर जी ने इतनी कम उम्र में भी सारे उत्तरदायित्व को योग्यतापूर्वक निभाया, तथा व्यवसाय-कार्य को व्यवस्थित रख कर अपनी मान प्रतिष्ठा को बनाये रक्खा।

बाबू जयशंकर जी निरभिमानी, सरल चित्त, नम्र और सुहृदय व्यक्ति हैं। अपने परिश्रम से आपने काव्य, दर्शन, पुरातत्व, इतिहास आदि का गहरा अनुशीलन किया है। बचपन से ही आपकी ज्ञानोपार्जन में रुचि रही है। आप स्वभावतः एक चिन्तारील और विचारवान व्यक्ति हैं। एकान्त आपको बहुत प्रिय है और बाहरी आदि का झंझट आप पसन्द नहीं करते।

कविता की ओर आपकी बचपन से ही प्रवृत्ति थी। आपका उपनाम 'प्रसाद' है, और इसी नाम से आप हिन्दी-साहित्य-जगत में चिरपरिचित हो चुके हैं।

प्रसाद जी की कविता

'प्रसाद' जी कतिपय अन्य कवियों की भाँति प्रारम्भ में ब्रजभाषा के अन्दर ही कवितायें लिखते थे। यद्यपि ब्रजभाषा में भी आपकी रचनाओं के अन्दर एक अपूर्वता तथा

निरालापन रहता था, किन्तु खड़ी बोली में आते ही आपकी कविता का लोकोत्तर वैचित्र्य स्पष्ट हो उठा।

'प्रसाद' जी हिन्दी-कविता के क्षेत्र में एक बिल्कुल नई अभिव्यक्ति को लेकर अवतीर्ण हुए। आपके समय से पहिले तक हिन्दी में जो अच्छे-अच्छे कवि हुए उनकी कविता से आपकी कविता बिल्कुल अलग मालूम पड़ती है।

पहिले पहिल 'प्रसाद' जी ने अपनी कविताओं के विषय तो प्रायः वैसे ही चुने जैसे आपके पूर्ववर्ती कवियों ने चुने थे, परन्तु इन विषयों पर कविता आपने इस ढंग से की कि उसके पढ़ने के पश्चात पाठक के हृदय पर एक अद्भुत छाप-सी पड़ी रह जाती थी। आपकी ये कवितायें समझ में तो अच्छी तरह आ जाती थीं, परन्तु पाठक को ऐसा मालूम पड़ता था मानो कवि ने कोई छिपी हुई बात प्रकट करने की चेष्टा की है, जिसे उसने खुल कर नहीं कहा है—केवल इशारा-भर कर दिया है। यह बात आपकी 'दर्शन'-नामक कविता से स्पष्ट हो जाती है।

धीरे-धीरे ऐसी कवितायें लिखने की ओर आपकी प्रवृत्ति बढ़ती गई और उनमें रहने वाला यह छिपा हुआ भाव अधिकाधिक गूढ़ होता गया। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक था कि आपकी कवितायें 'कठिनता से समझ में आने वाली' बन जातीं। आपकी इस ढंग की कवितायें यद्यपि उच्चकोटि के

काव्य की दृष्टि से क़ीमती मानी जाती हैं, तो भी, साधारण व्यक्ति के लिए 'पहेली' जैसी जान पड़ती हैं।

ऐसी रचनाओं के अतिरिक्त 'प्रसाद' जी ने कुछ इस प्रकार की कवितायें लिखीं, जिनका बाह्य जगत से कुछ सम्बन्ध नहीं मालूम पड़ता। इनमें एक मात्र मनुष्य के हृदय की भावनाओं और मानसिक व्यापारों का ही चित्र खींचा गया है।

'प्रसाद' जी ने करुणा, विषाद, वियोग आदि की साकार कल्पना कर के अनेक निराले काव्य-चित्र अंकित किये हैं। प्राकृतिक उपकरणों के आश्रय पर भी उन्होंने अनेक कवितायें लिखी हैं। इस प्रकार की रचनाओं से पाठकों को उनकी उर्वर कल्पना-शक्ति का परिचय मिलता है। 'प्रसाद' जी ने दो एक प्रबन्धात्मक काव्य भी लिखे हैं। इनमें वैयक्तिक चित्रण के साथ-साथ प्राकृतिक वर्णन भी मिलते हैं। प्राकृतिक व्यापारों में मनुष्य की मानसिक दशा विशेष का प्रतिबिम्ब देखना आपको प्रिय है। आपकी प्रकृति-परक रचनाओं में मनुष्य-हृदय के आशा, व्यथा, अनुराग, उदासी आदि की छाया, प्रायः देखी जाती है।

'प्रसाद' जी की कविताओं में 'भाव' की प्रधानता रहती है। यह भाव कहीं सरल और सहजगम्य हैं तथा कहीं-कहीं बहुत गहन रखे गये हैं। इन भावों के प्रकाशित करने

के ढंग के अनुसार कविता कोई सरल और कोई-कोई बहुत क्लिष्ट हो गई है।

'प्रसाद' जी किसी भी भाव को बहुत गहरा अनुभव कर के, उसी रूप में उसे कविता के अन्दर चित्रित करने की चेष्टा करते हैं। दूसरे शब्दों में—'प्रसाद' जी की कविता में गहरी अनुभूति विद्यमान रहती है। इस अनुभूति का सम्बन्ध हृदय से है, और यह क्यों कि अनुभव करने की वस्तु है, इसलिए 'प्रसाद' जी की ऐसी कविताओं का आनन्द वही लोग उठा पाते हैं जिनमें किसी बात को गहरा अनुभव करने की शक्ति हो। किसी व्यक्ति को कितना अथाह दुःख है, यह बात कविता में दिमाग़ से सोच कर ही व्यक्त नहीं की जा सकती, बल्कि जो व्यक्ति हृदय से उसके दुःख को गहरा अनुभव करता है वही उसको ठीक-ठीक व्यक्त कर सकता है। मतलब यह है कि 'प्रसाद' जी की कविता का रस सहज में केवल दिमाग़ से सोच-सोच कर नहीं किया जा सकता, बल्कि उसके अनुभव करने के लिए एक भावुक-हृदय होने की आवश्यकता है।

'प्रसाद' जी की कविताओं में कहीं-कहीं दार्शिनिक भाव भी रहते हैं। आपकी ऐसी कवितायें समझने के लिए दार्शिनिक सिद्धान्तों का ज्ञान होना और विचार-शक्ति का अच्छा होना भी आवश्यक हो जाता है। परन्तु इस ढंग की रचनायें कम हैं।

'प्रसाद' जी की कविता में 'भाव' की प्रधानता रहती है, यह पहिले कहा जा चुका है। भाव की यह प्रधानता कविता के अन्दर कहीं-कहीं इतनी प्रमुख हो जाती है कि कविता का असली विषय विलकुल ही छिप-सा जाता है। साधारण-तया किसी 'वस्तुरूप' या 'भावरूप' स्पष्ट विषय को लेकर कविता का आरम्भ होता है, और यह कवितायें अपने इस विषय पर आश्रित रहती हैं, कम-से-कम विषय के साथ कविता का संपर्क अवश्य बना रहता है। परन्तु 'प्रसाद' जी की अनेक रचनायें ऐसी मिलती हैं, जिनका विषय के साथ सहज में ही कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। ऐसी कविताओं को एक मात्र 'प्रलाप' भी करार नहीं किया जा सकता, क्यों कि पाठक के हृदय में ऐसी कविता पढ़ने के उपरान्त भी एक खास तरह की अनुभूति जागरित होती है, या एक प्रकार की छाप-सी उसके दिल पर अंकित रह जाती है। ऐसा किसी काव्य-जन्य-प्रेरणा के बिना सम्भव नहीं हो सकता।

ऐसा ज्ञात होता है कि 'प्रसाद' जी कविता लिखने से पहिले कोई 'भाव चित्र' अपने हृदय में अंकित करते हैं, या कोई ऐसी 'छाया मूर्ति' उनके मानस-पट पर प्रकट होती है जिसका शाब्दिक चित्र लिखने में उन्हें सुख मिलता है। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी खास विषय को पहिले से निश्चित कर के उस पर कविता बांधने के स्थान पर, 'प्रसाद'

जी की 'भाव-रचना' पहिले होती है, और विषय का निश्चय बाद को हो पाता है। इसी कारण उनकी कविताओं में विषय की अपेक्षा भी कहीं-कहीं भाव की ही प्रधानता देखी जाती है।

परन्तु ऐसा होने पर भी—भाव-रचना पहले और विषय का निश्चय बाद को होने के बावजूद भी, दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध तो रहना ही चाहिये। इसके विपरीत 'प्रसाद' जी की कुछ कविताओं में विषय के साथ भाव का कोई सम्बन्ध ही नहीं दिखाई देता, और भाव स्वयं भी कहीं-कहीं विशृङ्खल से जान पड़ते हैं।

इस सम्बन्ध में संक्षेप से इतना ही कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' जी की कविता में, भाव की प्रमुखता होने के कारण अधिकाधिक गहन होते जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यदि कविता को एक 'वृक्ष' मान लिया जाय तो 'भाव' उसकी पातालगामिनी जड़ों के समान और 'कल्पनायें' उस के पल्लव शाखाओं के तुल्य कही जा सकती हैं। जड़ का जितना ही विस्तार होगा, वह उतनी ही अधिक पातालभेदनी बनकर, वृक्ष के सम्पर्क से दूर—अति दूर होती हुई—गहन, अलक्षित और असम्बद्ध-सी जान पड़ेगी। यही बात 'भाव' के सम्बन्ध में समझनी चाहिये। कविता में भाव जितना सूक्ष्म और जितना-जितना गहरा भर देने की चेष्टा की जायगी, वह

स्थूल दृष्टि से उतना ही अग्रह्य, असम्बद्ध और विषय से दूर की चीज बनता जायगा। 'प्रसाद' जी के सदृश कविता-लेखकों की रचनाओं में असम्बद्धता का यही रहस्य है। अस्तु।

यद्यपि कविता की श्रेष्ठता इसी में समझी जाती है कि गम्भीर से गम्भीर भाव को रखते हुए भी वह स्पष्ट और पाठक के हृदय को स्पर्श करने वाली हो, परन्तु इस सचाई से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि अनेक रचनायें अस्पष्ट होती हुई भी हृदयस्पर्शी होती हैं। 'प्रसाद' जी की अनेक रचनायें इस प्रकार की भी हैं।

'प्रसाद' जी का अधिकांश काव्य प्रेम-मूलक है। प्रेम के लौकिक और दिव्य दोनों ही रूप आपकी कविताओं के आधार बने हैं। लौकिक प्रेम-वर्णन के आकस्मिक अनुराग, उपेक्षा, वियोग, वेदना, मिलन आदि भिन्न-भिन्न पहलुओं के मार्मिक चित्रण हैं। प्रेम-सम्बन्धी यह सभी चित्र सर्वथा नवीन, विलक्षण, सरस और आकर्षक उतरे हैं। इस प्रकार की प्रेम-परक रचनाओं में वासना-चित्रों के प्रकट हो जाने की प्रायः सम्भावना रहती है, परन्तु 'प्रसाद' जी ऐसे नाजुक स्थलों पर भी स्खलित नहीं हुए हैं। शृङ्गार-रस की मर्यादा का उल्लंघन न करके वे उसके अंतिम छोर का स्पर्श करके सहज ही लौट आये हैं।

'प्रसाद' जी के प्रेम-सम्बन्धी जिस काव्य का आरम्भ

लौकिक प्रेम को लेकर हुआ है उसकी परिणति उन्होंने भोग में न करके त्याग में ही की है। यद्यपि प्रिय-मिलन-जनित उल्लास और तृप्ति के चित्र भी हम इनकी कविता में पाते हैं, परन्तु यह संयोग, वैयक्तिक तृप्ति तक सीमित न रह कर विश्व कल्याण के लिये 'आत्मोत्सर्ग' के रूप में परिणित हो जाता है।

ऐहलौकिक प्रेम से उठ कर 'प्रसाद' जी आध्यात्मिक अनुराग के दिव्यलोक में भी विचरण करते हैं। समय समय पर हमारी अन्तरात्मा अपने वर्तमान बन्धन से उन्मुक्त होकर किसी अदृश्य महाशक्ति में आत्मविलय करने के लिये व्याकुल होती है। इस भाव का भक्त और प्रेमी के रूप में प्राचीन काव्यों में उल्लेख हुआ है। हिन्दी की अभिनव-काव्य-धारा में भी यह भावना अंकुरित हो चुकी है। 'प्रसाद' जी के काव्य में यह भाव रागात्मक वृत्ति के द्वारा प्रस्फुटित होता है। वे एक 'प्रेमी' के रूप में अपने 'प्रियतम' को खोज में विह्वल देख पड़ते हैं। प्रथम उसकी सत्ता की अनुभूति—कण-कण में उसकी व्यापकता—प्रति परिवर्तन में उसकी झलक कवि को उपलब्ध होती है। वह उसके अन्वेषण में तन्मय होता है। उसके साहचर्य को पाने को उसमें प्रबल उत्कण्ठा दीख पड़ती है। परन्तु अभीष्ट की उसे प्राप्ति नहीं होती। उसके हृदय में सदा एक अभाव बना रहता है, उसे सूनापन

और विकलता अनुभव होने लगती है। इसी वैकल्य में—इसी अन्तर्वेदना में वह प्रतप्त होता हुआ वासनाओं को दग्ध कर, मिलन पथ पर अग्रसर होता है।

'प्रसाद' जी के काव्य की कुछ विशेषतायें जान लेने के उपरान्त यह सहज ही अनुमान किया जाता है कि आपकी शैली भी कुछ निराली ही होनी चाहिये। आपकी आरम्भ काल की कवितायें ऐसी मिलती हैं जो सहज सरल और स्पष्ट हैं। इनमें एक साथ ही अनेक, और बहुत गहरे भाव नहीं हैं। परन्तु जिनमें, इन दिनों, आपने गंभीर और सूक्ष्म भाव भरने की चेष्टा की है उनमें, उस भाव के प्रकट करने का तरीका भी चक्करदार है। इसके अतिरिक्त बहुत सी रचनायें आपने ऐसी भी लिखी हैं जिनके छन्द छोटे-छोटे हैं और इनमें वाक्य के परिमित कलेवर के भीतर—सरल या कठिन शब्दों की सहायता से, आपने कोई चुटीला भाव भर दिया है। आपका बहुत प्रसिद्ध काव्य 'आंसू' इसी तरह पर लिखा गया है। 'प्रसाद' जी की यह शैली इस समय तक बहुत से कवियों द्वारा अपनाई गई है। इस शैली में गुण और दोष दोनों ही हैं। गुण तो यह कि छन्द छोटा-सा होता है और एक अकेला भाव छन्द की छोटी-सी डबिया में अच्छी तरह समा सकता है। पढ़ते ही, पाठक की समझ में आ जाने पर, हृदय में सहसा एक अनुभूति की तरंग-सी उठती है, और वह भावातिरेक

को वहन करने में अक्षम, विह्वल और कातर हो जाता है। दोष इस शैली का यह कि कठिनता से समझा जाने योग्य भाव और भी अस्पष्ट हो जाता है। छन्द के छोटे से खाने में जबरदस्ती ठूंसा होने के कारण इसका हुलिया बदल जाता है। पाठक या तो दिमाग लड़ा कर कविता की गुत्थी खोले, या उकता कर छन्द के उस टुकड़े को झटपट छोड़ कर आगे बढ़ जाय।

कविता में शैली की नवीनता के साथ ही साथ 'प्रसाद' जी की भाषा भी कहीं कहीं कुछ निराली ही रहती है। यद्यपि सरल भाषा में भाव-गाम्भीर्ययुक्त, प्रसाद-पूर्ण रचनायें भी आपकी लेखनी से कम नहीं निकलीं, परन्तु पर्याप्त संख्या आप की ऐसी कविताओं की भी है जिनकी भाषा जगह-जगह क्लिष्ट हो गई है।

इस सिलसिले में इतना तो माना जा सकता है कि गम्भीर और सूक्ष्म भाव को व्यक्त करते समय कुछ ऐसे शब्दों की सहायता अनिवार्य होती है, जिन्हें हम 'कम प्रयुक्त होने वाला' कहते हैं। ऐसे कुछ शब्दों के प्रयोग में कवि को स्वतन्त्रता भी दी जा सकती है। परन्तु, 'प्रसाद' जी की कुछ रचनाओं में कहीं-कहीं अनावश्यक रूप से कठिन संस्कृत शब्दों का व्यवहार हुआ है। आपके नाटकों में ऐसा अधिक देखा जाता है।

'प्रसाद' जी जहाँ एक ओर क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग स्वतन्त्रता से कर गये हैं, वहाँ साथ ही आपने बोल चाल

के—ठेठ हिन्दी भाषा के—शब्दों को भी कविता में आश्रय दिया है। उदाहरण के लिये जहाँ एक तरफ़, प्रच्छन्न, नीड़, प्रत्यञ्चा, अजिर, चषक, अहमिति, शिञ्जिनी आदि प्रयुक्त हुए हैं वहाँ साथ ही; पुरइन, चुंगना, झोरी, बिछल पड़ना, आदि को भी कविता में बैठाया गया है। इस प्रकार 'प्रसाद' जी की कविताओं में जहां नवीनता, हृदय को सहसा व्याकुल कर देने की शक्ति, भाव-गरिमा और प्रसाद गुण मिलते हैं, वहां भावों की सूक्ष्मता, विचारों की दार्शनिकता, शैली की विचित्रता और भाषा की क्लिष्टता के कारण,—साथ ही 'प्रसाद' जी की चिन्ता-शील प्रकृति होने से, आप की कुछ रचनाओं में दुरूहता, अस्पष्टता और अरोचकता भी पाठक को अनुभव होती है।

'प्रसाद' जी ने अपनी कविताओं के लिये छन्द भी एक से-एक नये ढंग के चुने हैं। इनमें से कुछ छन्दों का व्यवहार आपके पूर्ववत कवियों की रचनाओं में नहीं देखा जाता। 'प्रसाद' जी से पहिले तक हिन्दी-कविता प्राय ब्रज-भाषा और संस्कृत के कुछ निश्चित से छन्दों में ही रची जाती थी, परन्तु आपने अनेक, अब तक अप्रयुक्त छन्दों में कविता की और अतुकान्त कवितायें भी लिखी जो प्रवाह-विरुद्ध होने पर भी आदर के साथ देखी जाने लगी।

'प्रसाद' जी की कविताओं के संग्रह 'कानन कुसुम'—

'झरना', 'लहर' और 'चित्राधार' के नाम से हो चुके हैं। 'प्रेमपथिक', 'महाराणा का महत्व', 'आँसू' और 'कामायनी' नाम से चार काव्य भी अपने लिखे हैं। 'चित्राधार' में इन की ब्रजभाषा की कविताएं संगृहीत हैं। इस में तीन बड़ी कविताएं अयोध्या का उद्धार, वनमिलन और प्रेमराज्य, प्राचीन कथानक के आधार पर रचित हैं। और पराग में २४ फुटकर कविताए हैं। इनकेअतिरिक्त 'मकरंद बिंदु'में समस्या पूर्ति के ढंग के कवित्त हैं।

'महाराणा का महत्व' और 'प्रेमपथिक' प्रसाद जी की भिन्न-तुकांत कविताके उदाहरण हैं। 'महाराणा का महत्व' सन् १६१४ ई० में छपा था और इसमें नवीन छंद और भाषा का प्रवाह स्पष्ट दिखाई पड़ता है। 'प्रेम 'पथिक' सं० १६६२ के लगभग में लिखा गया था, किंतु आठ वर्ष बाद उसके कथानक में कुछ परिवर्तन करके कवि ने खड़ी बोली का सहारा लेकर अतुकांत छन्दों में उसे उपस्थित किया। इनकी सभी आरम्भिक रचनाओं में इस काव्य को अधिक महत्त्व मिला है। इस में सात्विक प्रेम का चित्रण है। 'कानन-कुसुम' में १११ कविताएं संगृही हैं। इसमें कुछ कविताएं पुराने ढंगकी हैं और अधिकतर नवीनता लिए हुए 'झरना' की कविताओं में कवि के भाव, भाषा और शैली में पर्याप्त विकास हुआ है। इस में 'प्रसाद' जी के रहस्यवादी स्वर का गान स्पष्ट सुनाई पड़ता है।

इन का 'आँसू' अनुभूतिपूर्ण और कल्पना-प्रधान काव्य है।

इस से बढ़ कर सुन्दर कल्पना और अनुभूति 'प्रसाद' जी के किसी अन्य काव्य में नहीं पाई जाती। वेदना,पीड़ा,मधुर भावना इस काव्य की प्रधान वस्तुएं हैं। इस में कुल १२४ पद्य हैं। इस छोटी सी रचना में किसी स्पष्ट घटना या व्यक्ति विशेष का चित्रण नहीं है, इसे तो एक स्मृति काव्य कहना चाहिए जिस में पूर्व प्रेम की स्मृति और विरह-जन्य मानसिक व्यापारों का सुन्दर चित्रण है। कहना तो यह चाहिए कि 'प्रसाद' जी का **'आँसू'** हृदयवाद की धरोहर है। 'आंसू' के बाद 'लहर' प्रकाशित हुई। इस में संगृहीत रचनाओं में 'प्रसाद' जी की छायावादी प्रतिभा खूब चमक उठी है। कवि की पूर्ण विदग्धता का परिचय इस एक उदाहरण से मिल जाता है; 'लहर' की रचनाएं सभी इसी युग की हैं :—

ले चल वहां भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी
अंबर के कानों में गहरी,
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

\+ + + +

उस-विश्राम-क्षितिज वेला से
जहां सृजन करते मेला से
अमर जागरण उषा नयन से
बिखराती हो ज्योति घनी रे।

इस में कवि अपने नाविक से कहता है कि मुझे भुलावा देकर वहां ले चल जहां निर्जन में सागर की लहरें अंबर के कानों में निश्छल प्रेम की कथा कहती है, जहां अमर जागरण अपनी ज्योति बिखराता है। नाविक कौन है ? यही रहस्य है। 'लहर' में कई प्रकार की रचनाएं हैं। कहीं तो प्रकृति के रमणीक पक्ष को लेकर सुन्दर और मधुर रूपकमय गान हैं। कहीं उस यौवन-काल की स्मृतियां हैं जिस में मधु का आदान-प्रदान चलता था। और कहीं प्रेम का शुद्ध स्वरूप यह कह कर बताया गया है कि प्रेम देने की चीज़ है, लेने की नहीं।

'कामायनी' 'प्रसाद' जी की अन्तिम, सर्वश्रेष्ठ और प्रौढ़तम काव्य है। अन्तिम ही नहीं, वरन् विकास और विस्तार की दृष्टि से यह अन्यतम भी है। प्राचीन जलप्लावन के उपरान्त मनु द्वारा मानवी सृष्टि के पुनर्विधान का आख्यान लेकर इस प्रबन्ध-काव्य की रचना हुई है। काव्य का आधार है मनु का पहले श्रद्धा को फिर इड़ा को पत्नी रूप में ग्रहण करना तथा इड़ा को बंदिनी या सर्वथा अधीन बनाने का प्रयत्न करने पर देवताओं का उन पर कोप करना। रूपक की भावना के अनुसार श्रद्धा विश्वास-युक्त रागात्मिका वृत्ति है और इड़ा व्यवसायात्मिका बुद्धि। कवि ने श्रद्धा को मृदुता, प्रेम और करुणा का प्रवर्त्तन करने वाली और सच्चे आनन्द तक पहुँचाने वाली चित्रित किया है। और इड़ा या बुद्धि को मानव को अनेक प्रकार के वर्गीकरण और व्यवस्थाओं में प्रवृत्त

करती हुई कर्मों में उलझाने वाली चित्रित किया है।

इस की कथा इस प्रकार चलती है। जल-प्लावन में मनु की नौका हिमवान की चोटी पर लगी और मनु वहीं बैठकर पिछली सृष्टि और आगे की दशा पर चिंतन करने लगे। यह चिंता 'बुद्धि मति या मनीषा' का ही एक रूप कही गई है। इस गुफा में मनु अग्निहोत्र और तप से संलग्न हो गए और कुछ दिन पीछे उनकी श्रद्धा से भेंट हुई। मनु और श्रद्धा में काम और वासना के भाव जागृत हो गए और उसी निर्जन प्रदेश में उजड़ी हुई सृष्टि को फिर से आरम्भ करने का प्रयत्न हुआ। यहीं श्रद्धा का नारी सुलभ सहचरी लज्जा से परिचय हो जाता है। किंतु असुर पुरोहित के मिल जाने से वे पशु-हिंसा-पूर्ण काम्य यज्ञ करने लगे। श्रद्धा को हिंसा से घृणा है। वह बलि के पशुओं को मारने के बदले पालना चाहती है। इसी बात को लेकर मनु से तर्क वितर्क करती है। मनु इससे झुंझलाकर श्रद्धा को छोड़ कर चले जाते हैं। यहाँ से वह उजड़े हुये सारस्वत प्रदेश में पहुँचते हैं जहां इनका संपर्क इड़ा से हुआ। इड़ा बुद्ध थी। इसके प्रति मनु को अत्यधिक आकर्षण हुआ और वह उनकी पथ-प्रदर्शिका बन गई। इड़ा के प्रभाव से ही मनु सभ्यता के द्योतक नगर, काम-धन्धे, अस्त्र-शस्त्र, नियमोपनियम वर्गव्यवस्था आदि निर्माण करते हैं। फिर इड़ा पर भी अधिकार करने की चेष्टा के कारण मनु पर देव शक्तियाँ कुपित हो उठीं। देवताओं से युद्ध करता हुआ मनु मूर्च्छित हो गया।

उधर श्रद्धा मनु के लौटने की राह देखने लगी। उसे एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। एक बार श्रद्धा को स्वप्न द्वारा मनु की अवस्था का ज्ञान हुआ और अपने कुमार को लेकर मनु की खोज करती हुई उनके पास पहुँच गई। श्रद्धा को फिर से देखने पर मनु को क्षोभ और पश्चाताप का अनुभव हुआ और वे चुपचाप कहीं चले गए। अपने कुमार को इड़ा के हाथों में सौंप कर श्रद्धा एक बार फिर मनु को ढूंढने निकली और उन्हें सरस्वती तट पर एक गुफा में पाया। वहां से आगे २ श्रद्धा और पीछे २ मनु हिमालय पर चढ़ने लगे। वे ऐसे महादेश में पहुँचे जहां तीन आलोक बिन्दु दिखाई दिये जो इच्छा, ज्ञान और क्रिया के केन्द्र से थे। श्रद्धा एक २ का रहस्य समझती है। इस व्याख्या में कवि पूरे रहस्य-दर्शी का बाना धारण करता है। इस के पश्चात आनन्द-भूमि दिखाई पड़ती है। वहां इड़ा भी कुमार (मानव) को लिये आ पहुँचती है और देखती है कि पुरुष पुरातन प्रकृति से मिला हुआ अपनी ही शक्ति से लहरें मारता हुआ आनन्द सागर सा उमड़ रहा है। यह देख इड़ा श्रद्धा से—

बोली—"मैं धन्य हुई हूं
जो यहां भूल कर आई;
हे देवि! तुम्हारी ममता
बस मुझे खींचती लाई।
भगवति, समझी मैं! सचमुच

कुछ भी न समझ थी मुझ को;
सब को ही भुला रही थी
अभ्यास यही था मुझको।

हम एक कुटम्ब बना कर
यात्रा करने हैं आये;
सुन कर यह दिव्य तपोवन
जिसमें सब अघ छुट जाये।"

फिर मनु मुस्कराते हुए कैलास की ओर दिखा कर उस आनन्द लोक का वर्णन करते हैं जहां पाप-ताप कुछ भी नहीं है, सब सम रस है और 'अभेद में भेद' वाले प्रसिद्ध सिद्धान्त का कथन करके कहते हैं—

अपने दुख सुख में पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर
चिति का विराट वपु मङ्गल
यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

अन्त में कवि वहीं प्रकृति के सारे सुख, भोग, कांति, रूप की सामग्री जुटा कर लीन हो जाते हैं।

यदि यह कथा मनु और कामायनी की केवल व्यक्तिगत होती और उस में कुछ भी सङ्केत न होता तो भी यह कितनी परिष्कृत तथा स्वाभाविक कथा थी। किन्तु यह पूर्ण रूप से सांकेतिक भी है। यह आधुनिक मानव-मात्र, नर-नारी मात्र की एक प्रतिनिधि

कथा या जीवनी का स्वरूप है। आज का मनुष्य मनु से भिन्न नहीं है, यद्यपि आज की नारी भले ही कामायनी से कुछ भिन्न हो। 'प्रसाद' जी की दृष्टि में नारी-सृष्टि मानो पुरुषों का उद्धार करने के लिये ही हुई है; वह विद्या में, बुद्धि में, चरित्र में सब प्रकार से पुरुष से श्रेष्ठ है। कवि का मत ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुष की समता की अधिकारिणी के रूप में नारी को अंकित करना उस का घोरतम अपमान करना है। यदि रूपक के आवरण को हटा कर देखें तो हृदय और मस्तिष्क के सम्बन्ध की अनेक परिस्थितियां–श्रद्धा, काम, लज्जा, आदि—केवल भावों के विकास में ही समझाई गई हैं।

'कामायनी' में महाकाव्य के सभी मुख्य लक्षण घटते हैं और 'रामचरित मानस' के बाद यही एक ऐसा महाकाव्य है जो हिंदी को विश्व-साहित्य में स्थान दिला सकता है।

कवि होने के अतिरिक्त 'प्रसाद' जी हिन्दी के एक विख्यात नाटककार थे। आपने जितने मौलिक और साहित्यक नाटक हिन्दी में लिखे उतने किसी अन्य साहित्यकार ने अब तक नहीं लिखे। आपके नाटकों के नाम निम्न हैं—

सज्जन, करुणालय, जनमेजय का नागयज्ञ, अजातशत्रु, प्रायश्चित, कामना, राज्यश्री, एकघूँट, विशाख, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुव स्वामिनी।

इन में अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं, जिनके अन्दर भारत

के प्राचीन गौरव और तत्कालीन संस्कृति की झलक दिखाई देती है। आप के यह नाटक नवीन भाव योजना और काव्य कला की दृष्टि से यद्यपि श्रेष्ठ साहित्य कृति माने जाते हैं परन्तु इन में अभिनय के उपयुक्त बहुत कम हैं। इसका कारण यह है कि इनमें से कुछ नाटकों का विस्तार बहुत बढ़ गया है। कुछ के पात्र ऐसे हैं जो इस मानव-जगत के नहीं जान पड़ते। कुछ नाटकों के पात्रों के सम्भाषण रहस्यात्मक हैं और उनके चरित्र-चित्रण, अभिनय के बाहर की चीज बन गये हैं। भाषा अनेक स्थलों पर साधारण व्यवहार की नहीं है, बल्कि बहुत क्लिष्ट हो गई है। नाटकों की दृश्य- योजना इतनी जटिल हो गई है कि बिना काँट छाँट किये इन्हें रंगमंच के योग्य नहीं बनाया जा सकता इतना होने पर भी आपके कुछ नाटक खेले गये हैं और शिक्षित वर्ग के द्वारा उनकी प्रशंसा भी हुई है। आपके कुछ नाटक पाठ्य-पुस्तकों के रूप में नियत कर दिये गये हैं। 'प्रसाद' जी के नाटकों में लिखी गई गीतियाँ भावपूर्ण और मधुर हैं।

कवि और नाटककार होने के साथ ही 'प्रसाद' जी हिन्दी के श्रेष्ठ कहानी-लेखकों में से हैं। कविता के समान ही कहानी के क्षेत्र में भी आपने एक नवीन शैली को जन्म दिया है। आपकी कहानियों में घटना या पात्र की प्रधानता न होकर 'भाव' मुख्य रहता है। नाटकों की तरह इनमें भी कहीं कहीं रहस्यमय उद्गार कठिनता से समझ में आने वाले गम्भीर विचार और उक्ति-वैचित्र्य

देखने को मिलते हैं। 'प्रसाद' जी 'कवि' पहिले हैं 'और कुछ' पीछे। इसी कारण नाटक या कहानी पर आप के कवित्व का छाप अवश्य पड़ी है। आपकी जिन रचनाओं में कहानी के प्रधान गुण 'मनोरञ्जकता' का साथ-साथ निर्वाह हुआ है, वे उत्कृष्ट और उच्च साहित्यिक कृतियाँ बन गई हैं। आपकी कहानियों के संग्रह 'आकाशदीप', 'छाया' और 'आँधी' के नाम से प्रकाशित हुए।

'प्रसाद' जी उपन्यासकार के रूप में भी साहित्य जगत् में अवतीर्ण हुए। अभी तक आपने दो उपन्यास लिखे हैं। इनमें से 'कंकाल, में आपने समाज की यथार्थ दशा को चित्रित करने का यत्न किया है। आपके दूसरे उपन्यास 'तितली' को अनेक विद्वान आलोचकों ने हिन्दी उपन्यास साहित्य में अपूर्व-रचना स्वीकार किया है।

साहित्य-सम्बन्धी इन भिन्न भिन्न क्षेत्रों में लिखते रहने के अतिरिक्त 'प्रसाद' जी पुरातत्व के बड़े प्रेमी थे। प्राचीन भारतीय-इतिहास और दर्शन विषय पर भी आपके लेख निकलते रहते थे। यह लेख संख्या में कम होते हुए भी महत्व-पूर्ण हैं।

इस प्रकार श्रीयुत जयशंकर 'प्रसाद' जी हिन्दी के एक ऐसे साहित्यकार हैं जिनकी प्रतिभा बहुमुखी है। इतने अधिक क्षेत्रों में उत्कृष्ट और सुन्दर साहित्य का प्रणयन करने वाले व्यक्ति साहित्य में विरले ही हुआ करते हैं। 'प्रसाद' जी हिन्दी के एक उत्कृष्ट कवि, श्रेष्ठ नाटक रचयिता, प्रसिद्ध कहानी-लेखक और सिद्धा हस्त उपन्यासकार है। आप पर हिन्दी-संसार को गर्व है।

जयशंकर 'प्रसाद'

पावस-प्रभात

नव तमाल श्यामल नीरद माला भली
श्रावण की राका रजनी में घिर चुकी।
अब उसके कुछ बचे अंश आकाश में
भूले भटके पथिक सदृश हैं घूमते ॥

अर्ध-रात्रि में खिली हुई थी मालती,
उस पर से जो विछल पड़ा था वह चपल।
मलयानिल भी अस्त-व्यस्त है घूमता,
उसे स्थान ही कहीं ठहरने को नहीं ॥

मुक्त व्योम में उड़ते-उड़ते डाल से
कातर अलस पपीहा की वह ध्वनि कभी
निकल-निकल कर भूल या कि अनजान में,
लगती है खोजने किसी को प्रेम से ॥

क्लान्त तारकागण की मद्यप-मण्डली
नेत्र-निमीलन करती है फिर खोलती।
रिक्त-चषक-सा चन्द्र लुढ़क कर है गिरा,
रजनी के आपानक का अब अन्त है ॥

रजनी के रञ्जक उपकरण बिखर गये
घूंघट खोल उषा ने झांका और फिर।
अरुण अपाङ्गों से देखा, कुछ हँस पड़ी,
लगी टहलने प्राची प्राङ्गण में तभी ॥

['झरना' से]

अर्चना

वीणे ! पंचम स्वर में बज कर मधुर मधु,
बरसा दे तू स्वयं विश्व में आज तो ।
उस वर्षा में भीगे जाने से भला
लौट चला आवे प्रियतम, इस भवन में ।
तेरी बातों में से तूने दुख दिया;
लज्जे ! जा, बस अब न सुनूँ मैं एक भी ।
रुष्ट हो गये प्रियतम, और चले गये,
यह कैसा सङ्कोच, मन ! तुझे क्या हुआ !
बड़ी-बड़ी अभिलाषायें इस हृदय ने
संचित की थीं इस छोटे भण्डार में,
लज्जावती लता सा होकर संकुचित—
जो अपने ही में छिप जाना चाहता ।
यदि साहस हो, उसे खोल कर देख लो,
मन-मन्दिर में नाथ हमारी 'अर्चना'
हुई उपेक्षित तुम से, हँसती है हमें ।
प्राण प्रदीप न करता है आलोक वह—
जिस में वाँछित रूप तुम्हारा देख लूं ।
जीवनधन ! क्या अश्रु सलिल अभिषेक भी
तृप्त नहीं कर सका तुम्हें ?—सब व्यर्थ है ।
बनो न इतने निर्दय सखे ! प्रसन्न हो ।

हो जावेगा जब निराश मन फिर कभी
ध्यान हमारा आवेगा होगी दया।
तो क्या मुग्ध न होगी तुम?—यह सोच लो,
फिर जैसा मन में आवे वैसा करो।

['झरना' से]

भरत और सिंह-शावक

हिमगिरि का उत्तुंग शृङ्ग है सामने
खड़ा बताता है भारत के गर्व को,
पड़ती इस पर जब माला रवि-रश्मि की
मणि-मय हो जाता है नवल प्रभात में।
बनती है हिम लता, कुसुम-मणि के खिले
पारिजात का ही पराग शुचि धूलि है,
सांसारिक सब ताप नहीं इस भूमि में
सूर्य ताप भी सदा सुखद होता यहाँ॥
हिम सर में भी खिले विमल अरविन्द हैं।
कहीं नहीं है शोक, कहाँ संकोच है॥
चन्द्रप्रभा में भी गलकर बनते नदी—
चन्द्रकान्त-से ये हिम खण्ड मनोज्ञ हैं।
कैसी हैं ये लता लटकती शृंग में।

जटा समान तपस्वी हिम-गिरि की बनी ॥
कानन इसके स्वादु फलों से हैं भरे।
सदा अयाचित फल देते हैं प्रेम से ॥
इसकी कैसी रम्य विशाल अधित्यका।
है जिसके समीप आश्रम ऋषिवर्य का ॥
अहा ! खेलता कौन यहाँ शिशु सिंह से
आर्य वृन्द के सुन्दर सुख-मय भाग्य-सा,
कहता है उसको लेकर निज गोद में—
"खोल, खोल, मुख सिंह बाल, मैं देखकर
गिन लूंगा तेरे दाँतों को,—हैं भले।
देखूँ तो कैसे यह कुटिल कठोर हैं ॥"
देख वीर बालक के इस औद्धत्य को
लगी गरजने भरी सिंहिनी क्रोध से ॥
छड़ी तान कर बोला बालक कोप से—
'बाधा देगी क्रीड़ा में यदि तू कभी,
मार खायगी, और तुझे दूँगा नहीं—
इस बच्चे को, चली जा, अरी भाग जा ॥"

× × ×

अहा कौन यह वीर बाल निर्भीक है ?
कहो भला भारत-वासी, हो जानते ?
यही 'भरत' वह बालक है, जिस नाम से

'भारत' संज्ञा पड़ी इसी वीर-भूमि की ।
कश्यप के गुरुकुल में शिक्षित हो रहा,
आश्रम में पल कर कानन में घूम कर,
निज माता की गोद मोद भरता रहा,
जो पति से भी बिछुड़ रही दुर्दैव वश ॥
जंगल के शिशु सिंह सभी सहचर रहे ।
रहा घूमता हो निर्भीक प्रवीर यह ॥
जिसने अपने बलशाली भुज-दण्ड से
भारत का साम्राज्य प्रथम स्थापित किया।
वही वीर यह बालक है दुष्यन्त का
भारत का शिर-रत्न 'भरत' शुभ नाम का ।

[कानन कुसुम से]

प्रताप-दर्शन

दिन भर के विश्रान्त विहग-कुल नीड़ से
निकल निकल कर लगे डाल पर बैठने ।
पश्चिम निधि में दिनकर होते अस्त थे
विपुल शैल-माला अंबुरगिरि की घनी—
शान्त हो रही थी, जीवन के शेष में

कर्मयोग रत मानव को जैसी सदा
मिलती है शुभ शान्ति। भली कैसी छटा
प्रकृति करों से निर्मित कानन देश की
स्निग्ध उपल शुचि स्रोत सलिल से धो गये,
जैसे चन्द्र प्रभा में नीलाकाश भी
उज्वल हो जाता है छुटी मलीनता।
महाप्राण जीवों के कीर्ति सुकेतु से
ऊँचे तरुवर खड़े शैल पर झूमते
आर्य जाति के इतिहासों के लेख सी,
जल-स्रोत-सी बनी चित्ररेखावली
शैल शिखाओं पर है सुन्दर दीखती
करि-कर-सम कर-बीच लिए करवाल है
कौन पुरुष वह बैठा तट पर स्रोत के
दोनों आँखें उठ-उठ कर बतला रहीं
'जीवन-मरण'—समस्या उन में है भरी
यद्यपि है वह वीर श्रान्त तब भी अभी
हृदय थका है नहीं, विपुल बल वर्ण है,
क्योंकि कर्म फल-लाभ एक बल है स्वयं।
करुणा-मिश्रित वीरभाव उस वदन पर
अनुपम महिमा-मण्डित शोभित हो रहा;
जन्म भूमि की ओर महा करुणा भरी

यवन शत्रु प्रति कालानल के कोप-सी
दोनो आंखें, तिस पर भी गम्भीरता
हर्ष भरा है अपने ही कर्तव्य का
आजीवन जिसको वह करता आ रहा।
कहो कौन है ?—आर्य-जाति के तेज सा
देश-भक्त, जननी का सच्चा पुत्र है।
भारतवासी ! नाम बताना पड़ेगा
मसि मुख में ले अहो ! लेखनी क्या लिखे !
उस पवित्र प्रातः स्मरणीय सुनाम को।
नहीं, नहीं, होगी पवित्र यह लेखनी
लिख कर स्वर्णाक्षर में नाम 'प्रताप' का।
तुम अपने प्रताप को विस्मृत हो गये
अरे ! कृतघ्न बनो मत उस को भूल के
यह महत्व-मय नाम स्मरण करते रहो।
—बैठे-बैठे बन शोभा थे देखते—
अपनी लीला भूमि, सुगौरव कुञ्ज की।

—'महाराणा का महत्व' से

विशुद्ध प्रेम

एक दिवस प्राची में अंधियारी जब बढ़ती जाती थी
संध्या अपना फैलाती थी प्रभाव प्रकृति-विहारों में
मैं पहुँचा गिरि तटी समीप, जहाँ निर्मल सरिता वहती
हरी भरी सब भूमि रही, अपने मन से विकसित तरु थे,
शीतल जल में अवगाहन कर शैल-शिला पर बैठ गया
शारद चन्द्र-गगन में सुन्दर लगा चमकने पूर्ण प्रकाश
शुभ्र अभ्र की छाया उस पर से हो कर चल जाती थी
तब जैसे 'कण्डील' प्रकृति कौतुक-वश हो लटकाती थी
पूर्ण चन्द्र की 'आँख मिचौनी' क्रीड़ा महा मनोहर थी
देख रहा था निर्निमेष हो मैं भी भावमयी क्रीड़ा,
धीरे-धीरे बीती बातें याद लगी पड़ने मुझ को
शैशव के सब सुखद दिवस जो स्वप्न-सदृश थे बीत गये
सचमुच तन्द्रा-सी मुझ को फिर लगी, मोह में मुग्ध हुआ
देव दूत-सा चन्द्र-बिम्ब से एक व्यक्ति उज्ज्वल निकला
कोमल-कण्ठ लगा कुछ कहने-ठोकर लगी विपञ्ची में-
"पथिक! प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है
घनी छांह है जो ऊपर तो नीचे कांटे बिछे हुए,
प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा

तब तुम प्रियतम-स्वर्ग विहारी होने का फल पाओगे;
इस का निर्मल विधु नीलाम्बर-मध्य किया करता क्रीड़ा
चपला जिस को देख चमक कर छिप जाती है घन-पट में
प्रेम-पवित्र पदार्थ, न इस में कहीं कपट की छाया हो,
इस का परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति-भाव में बना रहे
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबको समता है।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त-भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिस के आगे राह नहीं
अथवा उस आनन्द-भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं
यह जो केवल रूप जन्य है मोह, न उस का स्पर्धी है,
यही व्यक्ति-गत होता है; पर प्रेम उदार, अनन्त अहो
उस में इस में शैल और सरिता का-सा कुछ अन्तर है।
प्रेम,जगत का चालक है, इस के आकर्षण में खिचके
मिट्टी वा जल पिण्ड सभी दिन-रात किया करते फेरा
इसकी गर्मी मरु, धरणी, गिरि, सिन्धु सभी निज अन्तर में
रखते हैं आनन्द-सहित, है इसका अमित प्रभाव महा।
इस के बल से तरुवर पतझड़ कर बसन्त को पाते हैं
इस का है सिद्धान्त-मिटा देना अस्तित्व सभी अपना
प्रियतम-मय यह विश्व निरखना, फिर उसको है विरह कहाँ
फिर तो वही रहा मन में, नयनों में,प्रत्युत जग-भर में,
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से क्योंकि विश्व ही प्रियतम है

जब वियोग ऐसा हो तो संयोग वही हो जाता है
यह संज्ञायें उड़ जाती हैं, सत्य-तत्व रह जाता है ।"
धीरे धीरे स्वर-लहरी-सी मूर्ति लोप हो गई वहीं
प्रेम-बिम्ब से स्वच्छ चन्द्र में अपने कथन सदृश उसने
मिटा दिया अस्तित्व व्यक्ति का केवल प्रेम-सुधाकर था ।

['प्रेम पथिक' से]

बालू की बेला

आँख बचाकर न किरकिरा करदो इस जीवन का मेला ।
कहाँ मिलोगे ? किसी विजन में ? न हो भीड़ का जब रेला ॥
दूर ! कहां तक दूर ! थका भरपूर चूर सब अंग हुआ ।
दुर्गम पथ में विरथ दौड़कर खेल न था मैंने खेला ॥
कहते हो 'कुछ दुख नहीं' हाँ ठीक, हँसी से पूछो तुम,
प्रश्न करो टेढ़ी चितवन से, किस-किस को किसने झेला ॥
आने दो मीठी मीड़ों से नूपुर की झनकार रहो ।
गलबाहीं दे हाथ बढ़ाओ, कह दो प्याला भर दे, ला ॥
निठुर इन्हीं चरणों में मैं रत्नाकर हृदय उलीच रहा ।
पुलकित, प्लावित रहो, बनो मत सूखी बालू की बेला ॥

['झरना' से]

विषाद

कौन, प्रकृति के करुण काव्य सा, वृक्ष पत्र की मधुछाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में।
अखिल विश्व के कोलाहल से दूर सुदूर निभृत निर्जन में।
गोधूली के मलिनाञ्चल में, कौन जंगली बैठा बन में॥
शिथिल पड़ी प्रत्यञ्चा किसकी, धनुष भग्न सब छिन्न जाल है।
वंशी नीरव पड़ी धूल में, वीणा का भी बुरा हाल है॥
किसके तममय अन्तरतम में, झिल्ली की झनकार हो रही।
स्मृति सन्नाटे से भर जाती, चपला ले विश्राम सो रही॥
किसके अन्ताकरण अजिर में, अखिल व्योम का लेकर मोती।
आँसू का बादल बन जाता, फिर तुषार की वर्षा होती।
विषय शून्य किसकी चितवन है, ठहरी पलक अलक में आलस।
किसका यह सूखा सुहाग है, छना हुआ किसका सारा रस!
निर्झर कौन बहुत बल खाकर बिलखता ठुकराता फिरता!
खोज रहा स्थान धरा में, अपने ही चरणों में गिरता॥
किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है॥

['झरना' से]

आँसू

इस करुणा-कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती ?
मानस-सागर के तट पर क्यों लोल लहर की घातें,
कल-कल ध्वनि से हैं कहती कुछ विस्मृत बीती बातें ?
आती है शून्य क्षितिज से क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी ?
टकराती बिलखाती-सी पगली-सी देती फेरी ?
क्यों व्यथित व्योम गंगा-सी छिटका कर दोनों छोरें ?
चेतना-तरंगिनि मेरी लेती है मृदुल हिलोरें ?
क्यों छलक रहा दुख मेरा ऊषा की मृदु पलकों में ?
हां, उलझ रहा सुख मेरा संध्या की घन अलकों में !
जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति-सी छाई,
दुर्दिन में आंसू बनकर वह आज बरसने आई ।
शीतल ज्वाला जलती है, ईंधन होता दृग-जल का;
यह व्यर्थ सांस चल-चल कर करता है काम अनिल का ।
सुख आहत शाँत उमंगें बेगार सांस ढोने में
यह हृदय समाधि बना है, रोती करुणा कोने में ।
बस गई एक बसती है स्मृतियों की इसी हृदय में;
नक्षत्र-लोक फैला है जैसे इस नील निलय में ।
ये सब स्फुलिंग हैं मेरी उस ज्वालामयी जलन के,
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल मेरे उस महा मिलन के ।

चातक की चकित पुकारें, श्यामा-ध्वनि सरल, रसीली;
मेरी करुणार्द्र कथा की टुकड़ी आँसू से गीली।
अवकाश भला है किस को सुनने की करुण कथायें,
बेसुध जो अपने सुध से, जिनकी हैं सुप्त व्यथायें।
खाली न सुनहली संध्या मानिक मदिरा से जिन की,
वे कब सुनने वाले हैं दुख की घड़ियाँ भी दिन की।
अलियों से आंख बचा कर जब कंज संकुचित होते,
धुंधली संध्या, प्रत्याशा हम एक-एक को रोते।
झंझा झकोर गर्जन है, बिजली है नीरद-माला,
पा कर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला।
अभिलाषाओं की करवट फिर सुप्त व्यथा का जगना,
सुख का सपना हो जाना, भीगी पलकों का लगना।
इस हृदय-कमल का घिरना अलि-अलकों की उलझन में,
आंसू मरन्द का गिरना, मिलना निःश्वास पवन में।
मादक थी, मोहमयी थी मन बहलाने की क्रीड़ा,
हां, हृदय हिला देती थी वह मधुर प्रेम की पीड़ा।
जीवन की जटिल समस्या है जटा-सी बढ़ी कैसी,
उड़ती है धूल हृदय में, किस की विभूति है ऐसी!
जल उठा स्नेह दीपक-सा नवनीत हृदय था मेरा,
अब शेष धूप-रेखा से चित्रित कर रहा है अंधेरा।

किंजल्क-जाल हैं बिखरे, उड़ता पराग है रूखा,
क्यों स्नेह-सरोज हमारा विकसा मानस में सूखा ?
छिप गईं कहां छू कर वे मलयज की मृदुल हिलोरें !
क्यों घूम गई हैं आकर करुणा-कटाक्ष की कोरें ?

वाडव-ज्वाला सोती थी इस प्रेम सिंधु के तल में,
प्यासी मछली-सी आंखें थीं विकल रूप के जल में।
नीरव मुरली, कलरव चुप, अलि-कुल थे बन्द नलिन में
कालिंदी बही प्रणय की इस तन्मय हृदय-पुलिन में।

कुसुमाकर रजनी के जो पिछले पहरों में खिलता,
सुकुमार शिरीष कुसुम-सा मैं प्रात धूल में मिलता।
व्याकुल उस विपुल सुरभि से मलयानिल धीरे-धीरे
निःश्वास छोड़ जाता है फिर विरह-तरंगिनि तीरे।

छिल-छिलकर छाले फोड़े मल-मलकर मृदुल चरण-से
घुल-घुलकर बह रह जाते आँसू करुणा के कण-से।
बुलबुले सिंधु के फूटे, नक्षत्र-मालिका टूटी,
नभ मुक्त कुन्तला जगती दिखलाई देती लूटी।

इस विकल वेदना को ले किस ने सुख को ललकारा,
वह एक अबोध अकिंचन बेसुध चैतन्य हमारा!
लिपट सोते थे मन में सुख-दुख दोनों ही ऐसे—
चन्द्रिका अन्धेरी मिलती मालती-कुंज में जैसे।

['आंसू' से]

बीती विभावरी, जागरी !
अंबर-पनघट में डुबो रही
तारा-घट ऊषा नागरी ।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो, यह लतिका भी भर लाई
मधु-मुकुल-नवल-रस-गागरी ।
अधरों में राग मरन्द प्रिये !
अलकों में मलयज बन्द किए
तू अब तक सोई है आली,
आंखों में भरे विहाग री ।

['लहर' से]

अरी वरुणा की शांत कछार !

अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !
सतत व्याकुलता के विश्राम, अरे ऋषियों के कानन कुंज !
जगत नश्वरता के लघु त्राण, लता, पादप, सुमनों के पुंज !
तुम्हारी कुटियों में चुपचाप चल रहा था उज्ज्वल व्यापार;
स्वर्ग की वसुधा से शुचि संधि, गूंजता था जिससे संसार।

अरी वरुणा की शांत कछार

अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

तुम्हारे कुंजों में तल्लीन, दर्शनों के होते थे वाद ।
देवताओं के प्रादुर्भाव, स्वर्ग के स्वप्नों के संवाद ।
स्निग्ध तरु की छाया में बैठ परिषदें करतीं थीं सुविचार—
भाग कितना लेगा मस्तिष्क, हृदय का कितना है अधिकार ?

अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

छोड़ कर पार्थिव भोग विभूति, प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार,
पिता का वक्ष भरा वात्सल्य, पुत्र का शैशव-सुलभ दुलार ।
दुःख का करके सत्य निदान, प्राणियों का करने उद्धार;
सुनाने आरण्यक संवाद, तथागत आया तेरे द्वार ।

अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

मुक्ति-जल की वह शीतल बाढ़, जगत की ज्वाला करती शांत,
तिमिर का हरने को दुख-भार, तेज अमिताभ अलौकिक कांत ।
देव-कर से पीड़ित विक्षुब्ध प्राणियों से कह उठा पुकार—
तोड़ सकते हो तुम भव-बन्ध, तुम्हें है यह पूरा अधिकार ।

अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

छोड़ कर जीवन के अतिवाद, मध्य पथ से लो सुगति सुधार,
दुःख का समुदय उस का नाश, तुम्हारे कर्मों का व्यापार।
विश्व-मानवता का जयघोष यहीं पर हुआ जलद-स्वर-मन्द्र;
मिला था यह पावन आदेश, आज भी साक्षी हैं रवि-चन्द्र ।

अरी वरुणा की शांत कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

तुम्हारा वह अभिनन्दन दिव्य, और उस यश का विमल प्रचार;
सकल वसुधा को दे सन्देश धन्य होता है बारंबार ।
आज कितनी शताब्दियां बाद उठी ध्वसों में वह झंकार,
प्रतिध्वनि जिसका सुने दिगंत, विश्व वाणी का बने विहार ।
['लहर' से]

आत्म-कथा

मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझाकर गिर रही पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी ।
इस गम्भीर अनन्त-नीलिमा में असंख्य मानव इतिहास—
यह लो, करते ही रहते हैं, अपना व्यंग्य मलिन उपहास ।
तब भी कहते हो-कह डालूं दुर्बलता अपनी-बीती।
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे—यह गागर रीती ।
किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले—
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले ।

आत्म-कथा

यह विडम्बना ! अरी सरलते तेरी हंसी उड़ाऊँ मैं ।
भूलें अपनी, या प्रवंचना औरों की दिखलाऊँ मैं !
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊं मधुर चाँदनी रातों की ।
अरे खिल-खिलकर हंसते होने वाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देख कर जाग गया।
आलिंगन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया ?
जिसके अरुण-कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में ।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में ?
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की ।
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की ?
छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथायें आज कहूं ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूं ?
सुनकर क्या तुम भला करोगे-मेरी भोली आत्म-कथा ?
अभी समय भी नहीं-थकी सोई है मेरी मौन व्यथा ?

['लहर' से]

जयशंकर 'प्रसाद'

कामायनी का विरह

संध्या अरुण-जलज-केसर ले अब तक मन थी बहलाती,
मुरझा कर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहां पाती !
क्षितिज-भाल का कुंकुम मिटता मलिन कालिमा के कर से,
कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मंडराती ।

कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरन्द रहा,
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उस में है रंग कहां !
वह प्रभात का हीन कला शशि, किरण कहां चाँदनी रही,
वह संध्या थी, रवि शशि तारा, ये सब कोई नहीं जहां ।

जहां तामरस इन्दीवर या सित शतदल हैं मुरझाए
अपने नालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आए,
वह जलधर, जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नहीं,
शिशिर-काल का क्षीण स्रोत वह, जो हिमतल में जम जाए ।

एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झंकार नहीं,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा, एक कसक, साकार नहीं,
हरित कुंज की छाया-भर थी वसुधा आलिंगन करती,
वह छोटी-सी विरह-नदी थी, जिसका है अब पार नहीं ।

नील गगन में उड़ती-उड़ती विहग-बालिका-सी किरनें
स्वप्न-लोक को चलीं थकी-सी नींद सेज पर जा गिरने;
किन्तु विरहिणी के जीवन में एक घड़ी विश्राम नहीं,
बिजली-सी स्मृति चमक उठी तब, लगे जभी तम घन घिरने ।

कामायनी का विरह

संध्या नील सरोरुह से जो श्याम पराग बिखरते थे,
शैल-घाटियों के अञ्चल को वे धीरे से भरते थे।
तृण-गुल्मों से रोमाञ्चित नग सुनते उस दुःख की गाथा,
श्रद्धा की सूनी साँसों से मिल कर जो स्वर भरते थे।

\+ \+ \+

'जीवन में सुख अधिक या कि दुःख, मन्दाकिनि कुछ बोलोगी ?
नभ में नखत अधिक, सागर में या बुदबुद हैं गिन दोगी ?
प्रतिबिंबित हैं तारा तुम में, सिन्धु मिलन को जाती हो,
या दोनों प्रतिबिम्ब एक के इस रहस्य को खोलोगी ?

इस अवकाश-पटी पर जितने चित्र बिगड़ते-बनते हैं,
उन में कितने रंग भरे जो सुर-धनु पट से छनते हैं,
किन्तु सकल अणु पल में घुलकर व्यापक नील शून्यता-सा
जगती का आवरण वेदना का धूमिल पट बुनते हैं।

दग्ध श्वास से आह न निकले सजल कुहू में आज यहाँ !
कितना स्नेह जलाकर जलता ऐसा है लघु दीप कहाँ ?
बुझ न जाय वह साँझ किरण-सी दीप-शिखा इस कुटिया की,
शलभ समीप नहीं तो अच्छा, सुखी अकेले जले यहाँ !

आज सुनूं केवल चुप होकर, कोकिल जो चाहे कह ले,
पर न परागों की वैसी है चहल-पहल जो थी पहले;
इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की संध्या,
कामायनी, तू हृदय कड़ा कर धीरे-धीरे सब सह ले !

विरल डालियों के निकुञ्ज सब ले दुःख के निश्वास रहे,
उस स्मृति का समीर चलता है मिलन कथा फिर कौन कहे !
आज विश्व अभिमानी जैसे रूठ रहा अपराध बिना,
किन चरणों को धोयेंगे जो अश्रु पलक के पार बहे !

अरे मधुर हैं कष्ट-पूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ !
जब निःसंबल होकर कोई जोड़ रहा बिखरी कड़ियाँ ;
वही एक जो सत्य बना था चिर सुन्दरता में अपनी,
छिपा कहीं, तब कैसे उलझे उलझी सुख-दुख की लड़ियाँ !

विस्मृत हों ये बीती बातें, अब जिन में कुछ सार नहीं,
वह जलती छाती न रही अब वैसा शीतल प्यार नहीं,
सब अतीत में लीन हो चलीं, आशा, मधु अभिलाषायें,
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं !

वे आलिङ्गन एक पाश थे, स्मिति चपला थी, आज कहाँ ?
और मधुर विश्वास ! अरे वह पागल मन का मोह रहा,
वञ्चित जीवन बना समर्पण यह अभिमान अकिञ्चन का,
कभी दे दिया था कुछ मैंने ऐसा अब अनुमान रहा ।

विनिमय प्राणों का यह कितना भय-संकुल व्यापार अरे,
देना हो जितना दे-दे तू, लेना ! कोई यह न करे !
परिवर्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी कभी न हो सकती,
संध्या रवि देकर पाती है इधर-उधर उडुगन बिखरे !

कामायनी का विरह

वे कुछ दिन जो हंसते आए अन्तरिक्ष अरुणाचल से,
फूलों की भरमार स्वरों का कूजन लिए कुहुक बल से।
फैल गई जब स्मिति की माया किरन कली की क्रीड़ा से,
चिर-प्रवास में चले गए वे आने को कह कर छल से !

जब शिरीष की मधुर गन्ध से मान भरी मधु ऋतु रातें
रूठ चली जातीं रक्तिम-मुख, न सह जागरण की घातें,
दिवस मधुर आलाप कथा-सा कहता छा जाता नभ में,
वे जगते सपने अपने फिर तारा बन कर मुसक्याते।"

वन-बालाओं के निकुंज सब भरे वेणु के मधुर स्वर से,
लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार अपने घर से,
किन्तु न आया वह परदेसी युग छिप गया प्रतीक्षा में,
रजनी की भीगी पलकों से तुहिन बिन्दु कण-कण बरसे।

मानस का स्मृति-शतदल खिलता, झरते बिन्दु मरन्द घने,
मोती कठिन पारदर्शी ये, इन में कितने चित्र बने।
आंसू सरल तरल विद्युत्कण, नयनालोक विरह-तम में
प्राण पथिक यह संबल लेकर लगा कल्पना-जग रचने।

अरुण जलज के शोण कोण थे नव तुषार के बिन्दु भरे,
मुकुर चूर्ण बन रहे प्रतिच्छवि कितनी साथ लिये बिखरे।
वह अनुराग हंसी दुलार की पंक्ति चली सोने तम में,
वर्षा विरह कुहू में जलते स्मृति के जुगनू डरे डरे।

सूने गिरि-पथ में गुंजारित शृंगनाद की ध्वनि चलती,
आकांक्षा लहरी दुःख-तटिनी पुलिन अंक में थी ढलती ।
जले दीप नभ के, अभिलाषा शलभ उड़े, उस ओर चले,
भरा रह गया आंखों में जल बुझी न वह ज्वाला जलती ।

"मां"—फिर एक किलक दूरागत गूंज उठी कुटिया सूनी,
मां उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी;
लुटरी खुली अलक, रज-धूसर बाहें आकर लिपट गईं,
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी ।

"कहां रहा नटखट ! तू फिरता अब तक मेरा भाग्य बना ।
अरे पिता के प्रतिनिधि तूने भी सुख दुख तो दिया घना ।
चंचल तू, वनचर मृग बन कर भरता है चौकड़ी कहीं,
मैं डरती तू रूठ न जाय करती कैसे तुझे मना !"

"मैं रूठूं माँ और मना तू, कितनी अच्छी बात कही,
ले मैं सोता हूं अब जाकर, बोलूंगा मैं आज नहीं;
पके फलों से पेट भरा है, नींद नहीं खुलने वाली,"
श्रद्धा चुम्बन ले प्रसन्न कुछ, कुछ विषाद से भरी रही ।

× × ×

जल उठते हैं लघु जीवन के मधुर-मधुर वे पल हलके,
मुक्त उदास गगन के उर में छाले बन कर जा झलके;
दिवा-श्रांत आलोक-रश्मियां नील निलय में छिपी कहीं,
करुण वही स्वर फिर उस संसृति में बह जाता है गल के ।

प्रणय किरण का कोमल बन्धन मुक्ति बना बढ़ता जाता,
दूर, किन्तु कितना प्रतिपल वह हृदय समीप हुआ जाता
मधुर चाँदनी सी तन्द्रा जब फैली मूर्छित मानस पर,
तब अभिन्न प्रेमास्पद उसमें अपना चित्र बना जाता।
कामायनी सकल अपना सुख स्वप्न बना सा देख रही,
युग-युग की वह विकल प्रतारित मिटी हुई बन लेख रही;
जो कुसुमों के कोमल दल से कभी पवन पर अंकित था,
आज पपीहा के पुकार-सी नभ में खिंचती रेख रही।

['कामायनी' से]

आनन्द

चलता था धीरे धीरे
वह एक यात्रियों का दल,
सरिता के रम्य पुलिन में
गिरि पथ से, ले निज सम्बल।

थ सोम लता से आवृत्त
वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि,
घंटा बजता तालों में
उसकी थी मंथर गति विधि।

वृष रज्जु वाम कर में था
दक्षिण त्रिशूल से शोभित,

मानव था साथ उसी के
मुख पर था तेज अपरिमित।
केहरि किशोर से अभिनव
अवयव प्रस्फुटित हुए थे;
यौवन गम्भीर हुआ था
जिसमें कुछ भाव नये थे।
चल रही इड़ा भी वृष के
दूसरे पार्श्व में नीरव;
गैरिक वसना संध्या सी
जिसके चुप थे सब कलरव।
उल्लास रहा युवकों का
शिशु गण का था मृदु कलकल,
महिला मङ्गल गानों से
मुखरित था यह यात्री-दल।
चमरों पर बोझ लदे थे,
वे चलते थे मिल अविरल;
कुछ शिशु भी बैठ उन्हीं पर
अपने ही बने कुतूहल।
माताएँ पकड़े उन को
बातें थीं करती जातीं,

'हम कहां चल रहे' यह सब
उन को विधिवत् समझातीं।

कह रहा एक था, "तू तो
कब से ही सुना रही है—
अब आ पहुँची लो देखो
आगे वह भूमि यही है।

पर बढ़ती ही चलती है
रुकने का नाम नहीं है,
वह तीर्थ कहां है? कह तो,
जिसके हित दौड़ रही है!।"

"वह अगला समतल जिस पर
है देवदारु का कानन,
घन अपनी प्याली भरते
ले जिसके दल से हिमकन।

हां, इसी ढालवें को जब
बस सहज उतर जावें हम,
फिर सम्मुख तीर्थ मिलेगा
वह अति उज्ज्वल पावन-तम।"

वह इड़ा पास पहुँच कर
बोला उस को रुकने को,
बालक था मचल गया था
कुछ और कथा सुनने को।

वह अपलक लोचन अपने
पादाग्र विलोकन करती,
पथ-प्रदर्शिका सी चलती
धीरे-धीरे डग भरती ।

बोली, "हम जहां चले हैं
वह है जगती का पावन,
साधना प्रदेश किसी का
शीतल अति शांत तपोवन ।"

"कैसा ? क्यों शांत तपोवन ?
विस्तृत क्यों नहीं बताती,"
बालक ने कहा इड़ा से
वह बोली कुछ सकुचाती;

"सुनती हूं एक मनस्वी
था वहां एक दिन आया,
वह जगती की ज्वाला से
अति विकल रहा झुलसाया ।

उसकी वह जलन भयानक
फैली गिरि अंचल में फिर,
दावाग्नि प्रखर लपटों ने
कर दिया सघन वन अस्थिर।

थी अर्धाङ्गिनी उसी की
जो उसे खोजती आयी;
यह दशा देख करुणा की
वर्षा हग में भर लायी।

वरदान बने फिर उस के
आंसू, करते जग मंगल;
सब ताप शांत हो कर, वन
हो गया हरित सुख शीतल।

गिरि निर्झर चले उछलते
छायी फिर से हरयाली;
सूखे तरु कुछ मुसक्याये
फूटी पल्लव में लाली।

वे युगल वहीं अब बैठे;
संसृति की सेवा करते,
सन्तोष और सुख देकर
सब की दुख-ज्वाला हरते।

है वहां महा-ह्रद निर्मल
जो मन की प्यास बुझाता,
मानस उसको कहते हैं
सुख पाता जो है जाता।

['कमायनी' से।]

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

परिचय

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी का जन्म माघ सुदी ११ संवत् १९५५ को महिषा दल स्टेट (बंगाल) में हुआ। आपके पिता का नाम पं० रामसहाय था। इनका वास्तविक निवास-स्थान संयुक्त प्रांत के उन्नाव जिले में था। परन्तु महिषा दल स्टेट में आप नौकर होकर गए थे, और बाद को वहीं बस गये।

पं० सूर्यकान्त जी अपने माता-पिता की एकमात्र सन्तान हैं। आपका लालन-पालन और शिक्षण स्टेट के ही प्रबन्ध से हुआ। आप जिन दिनों स्कूल में पढ़ते थे तभी से कविता रचने लगे थे। बुद्धि तीव्र होने के कारण आप स्कूल के अध्यापकों के सहज ही स्नेपात्र बन गये थे। आपने अंगरेजी की शिक्षा, बंगला-भाषा के विख्यात लेखक बाबू हरिपद घोषाल एम० ए० एम० आर० ए० एस० से प्राप्त की थी। वे आपकी प्रतिभा पर अत्यन्त मुग्ध थे।

पं० सूर्यकान्त जी की प्रवृत्ति यद्यपि कविता की ओर बचपन से ही थी, परन्तु बीच में मैट्रिक्यूलेशन में पहुँचने पर आपका

दर्शनों की ओर झुकाव हो गया। प्रारम्भ में त्रिपाठी जी बंगला और संस्कृत में कवितायें लिखते थे, फिर धीरे-धीरे आपकी प्रवृत्ति स्वाभाविक तौर पर हिन्दी की ओर हो गई।

पं० सूर्यकान्त जी अभी २० वर्ष के ही थे कि आपकी पत्नी का देहान्त हो गया। इस आकस्मिक विपत्ति से इन्हें बड़ी मानसिक वेदना हुई। साथ ही गृहस्थी का भी कुल भार आपके ही कन्धों पर आ पड़ा। ऐसे समय में महिषा दल के महाराज ने आप की सहायता की। उनकी कृपा से आप वहीं स्टेट में नौकर हो गये। स्टेट के दरबार में आपका बड़ा मान रहा और महाराज की सदा आप पर कृपा बनी रही। संगीत की शिक्षा भी पंडित जी को दरबार से ही मिली।

कुछ समय तक आप श्री रामकृष्ण-मिशन-अद्वैत आश्रम के मुखपत्र 'समन्वय' के सम्पादक भी रहे हैं। दो वर्ष तक आपने उसका सम्पादन करके कार्य छोड़ दिया। इसके पश्चात आप हिन्दी के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'मतवाला' में कुछ समय तक लिखते रहे। आप आज-कल हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में लिखने रहते हैं।

पं० सूर्यकान्त जी की कविता का काल संवत १९७२ से आरम्भ होता है। आपने अधिकतर स्फुट कवितायें लिखी हैं। कविताओं के अतिरिक्त आपने अनेक कहानियां और उपन्यास

भी लिखे हैं। आप गद्य में निबन्ध भी लिखते हैं; और अनेक आलोचनायें भी समय-समय पर आपने लिखी हैं। हिन्दी-कविता के क्षेत्र में आपने 'निराला' उपनाम से कवितायें लिखनी प्रारम्भ की थीं, इसी नाम से आप साहित्य-जगत में अधिक प्रसिद्ध हैं।

'निराला' जी की कविता

'निराला' जी ने जिस समय हिन्दी में कविता लिखना शुरू किया उस समय आपकी रचनाओं के बाह्य और आन्तरिक 'वैचित्र्य' को देखकर सहसा बड़ा आन्दोलन-सा उठा।

आपने मात्रा और वर्ण के आधार पर बने हुए पहले से व्यवहृत होने वाले छंदों को त्याग कर सर्वथा 'निराले' छंद में कविता लिखनी शुरू की। उसमें आपने कविता की लड़ियाँ छोटी-बड़ी करके उन्हें इच्छानुकूल बिखरा कर ऊपर नीचे लिखने की पद्धति जारी की। ऐसा करते हुए आपने कविता के भाव को अधिक से अधिक प्रस्फुटित करने की ओर ध्यान दिया। साथ ही यह चेष्टा भी की कि छन्द में पठन की सुविधा रहे, और संगीत की दृष्टि से उसकी कड़ियों में एक सामञ्जस्य स्थापित हो सके। आपकी ऐसी शृङ्खलामयी रचना की पहले बहुत कड़ी आलोचनायें हुईं। परन्तु धीरे-धीरे अनेक कवियों ने ऐसी कवितायें लिखीं। इस समय तक यद्यपि आपके ऐसे छन्दों का प्रचलन अधिक नहीं हो सका है, परन्तु

उन पर विपरीत आलोचनायें अब नहीं होती और कवियों के लिए एक नवीन मार्ग खुल गया है ।

छन्द के समान ही 'निराला' जी ने कविता के आन्तरिक रूप में भी नवीनता प्रदर्शित की। आपके भावों पर यद्यपि अन्य भाषाओं के अनेक महाकवियों की गहरी छाप पड़ी हुई थी, और उनके भावों को 'अपनाए जाने' की बात आपने स्वीकार भी की थी, तो भी हिन्दी के लिये आपकी यह देन वस्तुतः 'निराली' ही थी।

पं० सूर्यकान्त जी की कविता को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने हिन्दी-कविता के भाव-क्षेत्र को बहुत विस्तृत किया। आप ने अनेक नये-नये भावों को कविता के अंदर सजाया। सामान्य विषयों को भी एक नए दृष्टिकोण से देखने की अपनी अद्भुत क्षमता को आपने प्रदर्शित किया। नित्य-नवीन भावनाओं का उन्मेष करने की आपमें विलक्षण प्रतिभा विद्यमान है। आपकी 'जूही की कली', 'यमुना' आदि रचनाओं ने नवीनता-प्रेमी पाठकों का ध्यान सहज ही अपनी ओर आकर्षित किया।

'निराला' जी की कविताओं में नव्य भावों के साथ विचार या चिन्तन भी अद्भुत ही देखने में आता है। आपकी कविता में दार्शनिक विचारों की प्रधानता रहतीहै और वे आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत रहती हैं। विषय की जटिलता के कारण आपकी

बहुसंख्यक कवितायें सर्व-साधारण की समझ से बाहर की चीज बनी रहती हैं। जो रचनायें समझ में आ सकती हैं उन्हें अनेक दार्शनिक रुचि के लोगों ने पसंद किया है। 'निराला' जी ने अपनी रचनायें पसन्द या नापसन्द किए जाने की पर्वाह नहीं की और आजकल भी आप अपनी इच्छा के अनुकूल ही रचनायें लिखते हैं। आप अद्वैत भावना के उपासक भक्त कवि हैं। इसी भावना को आप ने तरह-तरह से अपनी कविताओं में व्यक्त किया है। आपने प्रेम-मूलक आध्यात्मिक रचनायें भी लिखी हैं। आप आनन्दमय ब्रह्म में लीन होने में—तद्रूप—आनन्दमय होने में जीव की सार्थकता न मान कर उसके साधक और भक्त बने रहने में ही आनन्द अनुभव करते हैं।

पं० सूर्यकांत जी की कविता के अन्दर 'संकेत' का प्राधान्य देखा जाता है। आप किसी भाव को बिल्कुल साफ़-साफ़ तो लिखना चाहते ही नहीं। उसे 'ईषत् अवगुण्ठित' रूप में भी प्रकट नहीं करते। भाव को जरा-सा 'छू' भर देने में आपको आनन्द मिलता है। ऐसा करना यद्यपि कवि होने के नाते बहुधा ऊंचा काम समझा जाता है तो भी इससे कवितामें क्लिष्टता का दोष आ बैठता है। यदि कहीं इस गुण का परिचय देने के साथ कविता में आप अपनी शैली को सादा और सरल रख सकें तो वह खिलकर रह जाय। दूसरी एक बात 'निराला' जी की कविता में यह पाई जाती है कि कविता के अन्दर आये

हुए आप के विचारों में परम्परा कहीं-कहीं नहीं देखी जाती। दो विचारों के वीच की वात को 'अपने-आप' समझ लेने के लिए उसे पाठक की बुद्धि पर ही आप छोड़ देते हैं। यह जले पर नमक छिड़कने के समान होता है, और पाठक की तबियत कविता की ओर से दूर भागने लगती है।

'निराला' जी के गद्य तक में यह देखा जाता है कि वे बिना 'वक्रता' का आश्रय लिए कोई बात नहीं कहते। इसके कारण उनका गद्य तक समझने में कभी कभी कठिनाई पड़ जाती है। जब यह बात कविता के अंदर आ बैठती है तब उसका क्या हाल होता होगा इसका पाठक सहज ही अन्दाज लगा सकते हैं।

ऊपर जो कहा गया है उससे इस बात की सम्भावना की जा सकती है कि शायद 'निराला' जी की सम्पूर्ण कविता इसी ढंग की होगी। परन्तु यह वात नहीं है। आपकी अनेक कवितायें सुबोध और सरल भी हैं। कतिपय कवितायें ऐसी हैं जिनका आनन्द साधारण पाठक भी काफ़ी दूर तक उठा सकता है; हां कुछ रचनायें अलबत: नितान्त दुर्बोध और अगम्य हो गई हैं। जहाँ कवि ने अधिक या कुछ पेचीले अर्थ रखने का प्रयास किया है वहाँ पद-योजना उस अर्थ को व्यक्त करने में प्रायः अशक्त या उदासीन पाई जाती है। 'गीतिका' का यह गीत लीजिए—

कौन तम के पार ? (रे कह)
अखिल पल के स्रोत, जल जग,
गगन-घन-घन- धार (रे कह)
गन्ध -व्याकुल-कूल-उर-सर,
लहर-कच कर कमल-मुख पर,
हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर सर
गूंज बारम्बार ! (रे कह)

× ×

निशा-प्रिय-उर-शयन सुख-धन
सार या कि असार ? (रे कह)

इसमें आई हुई 'हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर', 'निशा प्रिय-उर-शयन' आदि पदावलियों का अभीष्ट अर्थ कवि को स्वयं समझाना पड़ा है। जैसे 'हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर'=आनन्द रूपी भौंरा स्पर्श का चुभा तीर हर रहा है (तीर के निकलने से भी एक प्रकार का स्पर्श होता है जो और सुखद है; यह तीर रूप का चुभा तीर है)। निशा-प्रिय-उर-शयन=निशा का प्रियतम के हृदय पर शयन।

'निराला' जी की स्फुट कविताओं के संग्रह अब तक 'अनामिका' और 'परिमल' नामों से प्रकाशित हुए हैं। 'रेखा' और 'तुलसीदास' नाम के खंड-काव्य भी आपने लिखे हैं।

'अनामिका' प्रथम बार सन् १६२३ में प्रकाशित हुई थी। इसमें 'मतवाला' के प्रारंभिक काल की रचनाएं शामिल थीं। किंतु बाद में इस संग्रह की सुन्दर कविताओंको 'परिमल' में समाविष्ट कर दिया था। फिर कवि ने अपनी सन् ३८ तक की नई रचनाओं का संग्रह प्रस्तुत किया और पुरानी 'अनामिका' की स्मृति में उसका नाम भी 'अनामिका ही रखा। 'निराला' जी की कविता के संपूर्ण रूप इस संग्रह में मिलते हैं। इसमें रामकी शक्ति पूजा', 'सरोजस्मृति', 'प्रेयसी', 'सखा के प्रति','तोड़ती पत्थर','वनवेला', 'रेखा' आदि अनेक उत्तम कविताओं का चयन है। इस में मुक्तक छन्द का विशेष प्रवाह है। 'परिमल' की कविताओं में 'तुम और मैं' बहुत उत्कृष्ट है। यह कविता बड़ी स्पष्ट, भाव-अनुभूति-पूर्ण तथा संगीत कला-पूर्ण है और ऊंची से ऊंची रहस्य-वादी रचना की समता कर सकती है। इसमें सेव्य-सेवक भावना का उत्कृष्ट, अलौकिक और मधुर प्रवाह प्रवाहित है। इसी भाव की कुछ प्राचीन तथा नवीन कविताएं भी मौजूद हैं किन्तु इसमें जो मौलिकता है वह कवि की अपनी है।

'तुलसीदास' 'निराला' जी की एक बड़ी रचना है जो अधिकांश अन्तमुंख प्रबन्ध के रूप में है। इस ग्रन्थ में गोस्वामी तुलसीदास किस प्रकार अपनी स्त्री पर अत्यधिक आसक्त थे और बाद को उसी के द्वारा उन्हें राम की भक्ति का निर्देश हुआ— जन-साधारण में प्रचलित इस कथा के आधार पर कविता

की है। तुलसी का प्रथम अध्ययन, पश्चात पूर्व संस्कारोंका उदय, प्रकृति-दर्शन और जिज्ञासा, नारी से मोह, मानसिक संघर्ष और अंत में नारी द्वारा ही विजय आदि वे मनोवैज्ञानिक समस्याएं हैं जिन्हें लेकर कवि ने कथा को विस्तार दिया है। यहाँ रहस्यवाद से सम्बन्ध रखने वाली भावना-प्रणाली का विश्लेषण करना कवि का इष्ट रहा है। कथा को प्राधान्य देने वाली कविताएं हिन्दी में शतशः हैं, मनोविज्ञान को आधार मान पद्य में लिखी जाने वाली कविताओं में यह एक ही है। इसकी भाषा बहुत कुछ कवि की स्वयं गढ़ी हुई है।

इन कविताओं के अतिरिक्त कवि ने बड़े सुन्दर गीत भी लिखे हैं। इन गीतों में व्यथा है, मार्मिक वेदना है, अनुभूति है। भाव है, अलंकार की सजावट है, संगीत है और मधुरता है। कुछ आलोचकों के मतानुसार 'निराला' जी के गीतों का स्थान उनकी अन्य कविताओं से अधिक उच्च है। हिंदी में खड़ी बोली के छोटे सुन्दर गीतों की सृष्टि इन्होंने ही की जिससे गेय काव्य को पुष्टि प्राप्त हुई। इनके गीतों का संग्रह 'गीतिका' नामक पुस्तक में हुआ है। इन गीतों में कहीं स्वतन्त्रता के बंधन से मुक्त होने का स्वर आलाप गया है, कहीं जीवन के दावानल को सहन करने का वर मांगा गया है, कही अपने जीवन के मरुस्थल में जर्जरित हृदय-रूपी तरु के लिए स्नेह की भिक्षा मांगी है, और कहीं सरिता के तट पर शृंगार से ओत-प्रोत नवयौवना युग-कर-कमल से घट भरकर आती हुई दिखाई पड़ती है।

'निराला' जी की कविता

यह प्रथम कहा जा चुका है कि 'निराला' जी गद्य के भी अच्छे लेखक हैं। आपने गद्य में निबन्ध, कथा और उपन्यास आदि लिखे हैं। निबन्ध आपके नवीन और सूक्ष्म विचारों से भरे होते हैं। परन्तु उनकी शैली ऐसी चक्करदार और भाषा इतनी क्लिष्ट होती है कि वे कभी-कभी 'पहेली' की तरह के बन जाते हैं।

'निराला' जी कई वर्षों से कहानियाँ भी लिख रहे हैं। इनके कुछ संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। कहानियों के अतिरिक्त आपने 'अलका', 'अप्सरा' और 'प्रभावती' आदि उपन्यास भी लिखे हैं। समय-समय पर पुस्तकों की समालोचनायें भी लिखते रहते हैं। 'रवींद्र-कविता-कुञ्ज' में कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर की कविताओं का संकलन कर आपने उन पर अपने गहरे आलोचनात्मक विचार भी प्रस्तुत किये हैं। मौलिक पुस्तकों के अतिरिक्त 'निराला' जी ने अनेक पुस्तकों का बँगला भाषा से अनुवाद भी किया है। आप हिंदी, संस्कृत, बंगला आदि के अच्छे विद्वान हैं।

सब बातों पर दृष्टि रखते हुए यह बात स्वीकार करना पड़ती है कि पं० सूर्यकान्त जी त्रिपाठी 'निराला' हिंदी भाषा के लिये एक गौरव की वस्तु हैं। काव्य जगत् में आपने अंगरेजी और बंगला की पद्धति पर स्वतंत्र शृङ्खला-मय छन्द का चलन जारी किया। अनेक उत्तम समझे जाने वाले काव्य तक इस शैली के छंद में आज निकल रहे हैं और उन्हें आदर मिला है।

कविता के अंदर अभिनव दार्शनिक विचार-धारा प्रवाहित करने के कारण 'निराला' जी ने हिंदी के 'उथलेपन' को दूर करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है, और उसमें गम्भीरता एवं गरिमा लाने की चेष्टा की है। भक्ति और प्रेम की एक विशिष्ट भावना को लाकर आपने नवीन क्षेत्र में कविता करने की प्रेरणा दी है।

कविता के अंदर 'निराला' जी की भाषा अत्यन्त मंजी होती है। अधिकांश रचनाओं में वह सरल हुई है। 'निराला' जी की कविता भाषा-काठिन्य के कारण क्लिष्ट नहीं होती बल्कि उसके विचार और लेखन शैली ऐसे होते हैं जिनके कारण वह बहुधा कठिन जान पड़ती है। 'निराला' जी हिंदी के भी बड़े हिमायती हैं। वक्तृत्व-शक्ति आपकी बड़ी अच्छी है। आपने अनेक अवसरों पर हिंदी-विरोधियों को मुंह तोड़ जवाब दिये हैं। 'निराला' जी के लेखों या कविताओं से आपका पहचानना सहज नहीं। आप हृदय के कोमल और निरभिमानी तथा बड़ी सरल-वृत्ति के पुरुष हैं। आप की प्रतिभा बहुमुखी है और हिंदी को भविष्य में आप से बड़ी आशायें हैं।

गीत (१)

(प्रिय) यामिनी जागी।
अलस पङ्कज-दृग अरुण-मुख—
तरुण – अनुरागी ।

खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तर रहे,
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे,

ज्योति की तन्वी, तड़ित–
द्युति ने क्षमा माँगी ।

हेर उर-पट, फेर मुख के बाल,
लख चतुर्दिक चली मन्द मराल,
गेह में प्रिय-स्नेह की जय-माल,

वासना की मुक्ति, मुक्ता,
त्याग में तागी ।

['गीतिका' से]

गीत (२)

सखि, वसन्त आया।
भरा हर्ष वन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।

किसलय-वसना नव-वय-लतिका
मिली मधुर प्रिय-उर तरु-पतिका,
मधुप-वृन्द बन्दी—
पिक-स्वर नभ सरसाया।

लता-मुकुल-हार-गन्ध-भार भर
बही पवन बन्द मन्द मन्दतर,
जागी नयनों में वन-
यौवन की माया।

आवृत सरसी-उर-सरसिज उठे,
केशर के केश कली के छुटे,
स्वर्ण-शस्य-अञ्चल
पृथ्वी का लहराया।

['गीतिका' से]

गीत (३)

हमें जाना है जग के पार —

जहाँ नयनों से नयन मिले,
ज्योति के रूप सहस्र खिले,
सदा ही वहती नव-रस-धार—
वहीं जाना इस जग के पार ।

कामना के कुसुमों को कीट
काट करता छिद्रों की छींट
यहाँ रे सदा प्रेम की ईंट
परस्पर खुलती सौ सौ बार—
हमें जाना इस जग के पार ।

वहाँ नयनों में केवल प्रात
चन्द्र-ज्योत्स्ना ही केवल गात,
रेणु-छाये ही रहते पात
मन्द ही वहती सदा वयार—
हमें जाना इस जग के पार ।

डोल सहसा संशय में प्राण
रोक लेते अपना मृदु गान,
यहाँ से सदा प्रेम में मान,
ज्ञान में वैठा प्रेम असार—
हमें जाना जग के उस पार ।

['परिमल' से]

स्मृति

जटिल-जीवन-नद में तिर-तिर,
डूब जाती हो तुम चुपचाप;
सतत द्रुत-गति-मयि अयि, फिर–फिर
उमड़ करती हो प्रेमालाप।
सुप्त मेरे अतीत के गान,
सुना प्रिय, हर लेती हो ध्यान !
सफल जीवन के सब असफल,
कहीं की जीत, कहीं की हार,
जगा देता मधु-गीत सकल,
तुम्हारा ही निर्मम झङ्कार,
वायु-व्याकुल शतदल-सर हाय,
विकल रह जाता हूं निरुपाय !
मुक्त शैशव मृदु-मधुर मलय,
स्नेह कम्पित किसलय नव गात,
कुसुम अस्फुट नव नव सञ्चय,
मृदुल वह जीवन कनक-प्रभात
आज निद्रित अतीत में बन्द
ताल वह, गति वह, लय वह छंद।
आँसुओं–से कोमल झर–झर
स्वच्छ–निर्झर–जल कण–से प्राण,

स्मृति

सिमिट सट-सट अन्तर भर-भर
जिसे देते थे जीवन-दान,
वही चुम्बन की प्रथम हिलोर
स्वप्न-स्मृति, दूर, अतीत, अछोर,

कली-सुख वृतों की कलियाँ
विटप उर की अवलम्बित हार
विजन – मन – मुदित सहेलरियाँ,
स्नेह उपवन की सुख, शृंगार ।
आज खुल-खुल गिरतीं असहाय,
विटप वक्षःस्थल से निरुपाय ।

मूर्ति वह यौवन की बढ़-बढ़,
एक अश्रुत भाषा की तान,
उमड़ चलती फिर-फिर अड़-अड़,
स्वप्न-सी जड़ नयनों में मान,
मुक्त-कुन्तल, मुख व्याकुल लोल,
प्रणय-पीड़ित वे अस्फुट बोल ।

तृप्ति वह तृष्णा की अविकृत,
स्वर्ग आशाओं का अभिराम,
क्लांति की सरल मूर्ति निद्रित,
गरल की अमृत, अमृत की प्राण ।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

रेणु वह किस दिगन्त में लीन,
वेणु-ध्वनि-सी न शरीराधीन ।
सरल–शैशव–श्री सुख–यौवन
केलि अलि-कलियों की सुकुमार
अशंकित नयन, अधर–कम्पन,
हरित–हत पल्लव-नव शृंगार,
दिवस-द्युति छवि निरलस अविकार
विश्व की श्वसित छटा विस्तार।
नियति–संध्या में मुंदे सकल
वही दिनमणि के अगणित साज
न हैं वह कुसुम, न वह परिमल,
न हैं वे अधर, न है वह लाज,
तिमिर ही-तिमिर रहा कर पार
लक्ष वक्षस्थलागलित हार !
उषा सी क्यों तुम कहो द्विदल,
सुप्त पलकों पर कोमल हाथ
फेरती हो ईप्सित मंगल
जगा देती हो वही प्रभात
वही सुख, वही भ्रमर-गुञ्जार
वही मधु–गलित पुष्प–संसार !

स्मृति

जगत-उर की गत अभिलाषा
शिथिल तंत्री की सोई तान,
दूर विस्मृति-सी मृत भाषा
चिता की चिरता का आह्वान
जगाने में है क्या आनन्द ?
शृंखलित गाने में क्या छंद ?
मुन्दी जो छवि चलते दिन की,
शयन-मृदु नयनों में सुकुमार
मलिन जीवन-संध्या जिन की,
हो रही हो विस्मृति में पार,
चित्र वह स्वपनों में क्यों खींच
सुरा उनमें देती हो सींच ।
छिपी जो छवि छिप जाने दो,
खोलते हुए तुम्हें क्यों चाव !
दुखद वह झलक न आने दो,
हमें खेने भी तो दो नाव ?
हुए क्रमशः दुर्बल थे हाथ,
दूसरे और न कोई साथ !
बँधे जीवों की बन माया,
फेरती फिरती हो दिन-रात

दुख:-सुख के स्वर की काया
सुनाती है पूर्व-श्रुत बात,
जीर्ण जीवन का दृढ़ संस्कार
चलाता फिर नूतन संसार ।

यही तो है जग का कम्पन
अचलता में सुस्पंदित प्राण,
अहंकृति में झंकृति जीवन,
सरस अविराम पतन-उत्थान
दयामय हर्ष क्रोध अभिमान
दुख-सुख तृष्णा ज्ञानाज्ञान ।

रश्मि से दिनकर की सुन्दर
अध-वारिद-उर में तुम आप
तूलिका से अपनी रच कर
खोल देती हो हर्षित चाप,
जगा नव आशा का संसार,
चकित छिप जाती हो उस पार !

पवन में छिप कर तुम प्रतिपल,
पल्लवों में भी मृदुल हिलोर,
चूम कलियों के मुद्रित दल,
पत्र-छिद्रों में गा निशि-भोर
विश्व के अंतस्थल में चाह,
जगा देती हो वहित प्रवाह ।

[‘परिमल' से]

भिक्षुक

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को
मुँह फटी-पुरानी झोली का फैलाता--
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता !
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए
बायें से वे मलते हुए पेट को चलते
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।
भूख से सूख ओंठ जब जाते
दाता भाग्य विधाता से क्या पाते—
घूँट आंसुओं के पीकर रह जाते।

चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।
ठहरो, अहा मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूंगा,
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम ?
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूंगा॥

['परिमल' से]

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

दीन

सह जाते हो
उत्पीड़न की क्रीड़ा सदा निरंकुश नग्न,
हृदय तुम्हारा दुर्बल होता भग्न,
अन्तिम आशा के कानों में
स्पन्दित हम सब के प्राणों में
अपने उर की तप्त व्यथायें,
क्षीण कण्ठ की करुण कथायें
कह जाते हो
और जगत की ओर ताक कर
दुःख, हृदय का क्षोभ त्याग कर,
सह जाते हो !
कह जाते हो—
"यहां कभी मत आना,
उत्पीड़न का राज्य, दुःख ही दुःख
यहां है सदा उठाना,
क्रूर यहां पर कहलाते हैं शूर
और हृदय का शूर सदा ही दुर्बल क्रूर,
स्वार्थ सदा रहता परार्थ से दूर,
और परार्थ वही जो रहे
स्वार्थ ही से भरपूर,

दीन

जगत की निद्रा है जागरण,

और जागरण जगत का--इस संसृति का

अन्त—विराम—मरण

अविराम घात--आघात,

आह ! उत्पात !

यही जग-जीवन के दिन-रात।

यही मेरा, इनका, उनका, सबका स्पंदन,

हास्य से मिला हुआ क्रंदन।

यही मेरा, इनका, उनका, सबका जीवन,

दिवस का किरणोज्ज्वल उत्थान,

रात्रि की सुप्ति, पतन,

दिवस की कर्म-कुटिल, तम शान्ति

रात्रि का मोह, स्वप्न की भ्रान्ति,

सदा अशान्ति !

['परिमल' से]

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

रास्ते के फूल से

झाली करुणा की भिक्षा की,
दलित कुसुम ! क्यों कहो,
धूलि में नज़र गड़ाये हो फैलाए ?
मलिन दृष्टि के भाषा-हीन भाव से-
मर्म-स्पर्शी देश-राग के से प्रभाव से
क्या तुम बतलाते हो
जब किसी पथिक को इधर कभी आते जाते पाते हो ?
क्या कहते हो ?-"झटिका के
झोंके में तरु था झुका,
बचने पर भी, आह, अन्त तक न रुका।
खिन्न लतिका को करके छिन्न,
आंधी मुझे उड़ा लाई है
तब से यह नौबत आई है !"
--यह नहीं ? कहो फिर--फिर क्या ?
"ढके हृदय में स्वार्थ, लगाए ऊपर चन्दन,
करते समय नदीश-नन्दिनी का अभिनन्दन,
तुम्हें चढ़ाया कभी किसी ने था देवी पर,
दिन भर में जब मुरझाये,
रूप-सुवास-रंग चरणों पर यद्यपि अर्पित कर पाये।

किन्तु देख कर तुम्हें जरा से जर्जर,
फेंक दिया पृथ्वी पर तुमको
रखे हुए हृदय में अपने उस निर्दय ने पत्थर ?"
नहीं ? तो क्यों दुःख से घिरते हो ?
मारे मारे इधर उधर फिरते हो।

['परिमल' से]

कण

तुम हो अखिल विश्व में
या यह अखिल विश्व है तुम में ?
अथवा अखिल विश्व तुम एक !
यद्यपि देख रहा हूं तुम में भेद अनेक ?
विन्दु ! विश्व के तुम कारण हो
या यह विश्व तुम्हारा कारण ?
कार्य पञ्च-भूतात्मक तुम हो
या कि तुम्हारे कार्य भूत गण ?
आवर्तन-परिवर्तन के तुम नायक नीति-निधान
परिवर्तन ही या कि तुम्हारा भाग्य-विधायक है बलवान
पाया हाय न अब तक इसका भेद,
सुलझी नहीं ग्रन्थि मेरी, कुछ मिटा न खेद !

कभी देखता अट्टालिका-विनोद-मोद में
बैठे महाराज तुम दिव्य-शरीर,
कभी देखता, मार्ग-मृत्तिका मलिन गोद में
हो कराहते व्याधि-विशीर्ण अधीर;
कभी परागों में फुर फुर उड़ते हो,
और कभी आंधी में पड़ कुढ़ते हो,
क्या जाने क्यों कभी हास्यमय
और कभी जब आता असमय
ढुलकाते दुख-नीर !
ताक रहे आकाश,
बीत गये कितने दिन कितने मास !
विरह-विधुर उर में न मधुर आवेश,
केवल शेष
क्षीण हुए अंतर में है आभास,
प्रिय-दर्शन की प्यास;
ताक रहे आकाश
बीत गये कितने दिन—कितने मास !
पड़े हुए सहते हो अत्याचार
पद पद पर सदियों के पद-प्रहार;
बदले में, पद में कोमलता लाते,
किन्तु हाय वे तुम्हें नीच ही हैं कह जाते !

तुम्हें नहीं अभिमान,
छूटे कहीं न प्रिय का ध्यान,
इससे सदा मौन रहते हो,
क्यों रज 'विरज' के लिए ही इतना सहते हो।

['परिमल' से]

बादल राग (१)

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर।
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !
झरझरझर निर्झर-गिरि-सर में,
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित-तड़ित-गति--चकित पवन में,
मन में, विजन-गहन-कानन में
आनन-आनन में रव-घोर- कठोर—
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर।

अरे वर्ष के हर्ष,
बरस तू बरस-बरस रस-धार।
पार ले चल तू मुझ को,
बहा, दिखा मुझ को भी निज
गर्जन-भैरव संसार !

उथल- पुथल हृदय
मचा हलचल—
चल रे चल,—
मेरे पागल बादल !

धंसता दल-दल
हंसता है नद खल्-खल् ,
बहता, कहता कुल-कुल कल-कल-कल-कल
देख-देख नाचता हृदय
बहने को महा विकल—बेकल,
इस मरोर से—इसी शोर से—
सघन घोर गुरु गहन रोर—
मुझे—गगन का दिखा सघन वह छोर से !
राग—अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

['परिमल' से]

बादल राग (२)

ऐ निर्बन्ध !—
अंध-तम-अगम- अनर्गल बादल !
ऐ स्वच्छन्द !—
मन्द-चंचल-समीर-रथ पर उच्छृंखल !

बादल राग (२)

ऐ उद्दाम !
अपार कामनाओं के प्राण !
बाधा-रहित-विराट !
ऐ विप्लव के प्लावन !
सावन घोर गगन के
ऐ सम्राट !
ऐ अटूट पर छूट-टूट पड़ने वाले—उन्माद !
विश्व-विभव को लूट-लूट लड़ने वाले—अपवाद !
श्री बिखेर, मुख फेर कली के निष्ठुर पीड़न !
छिन्न-भिन्न कर पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन,
वज्र घोष से ऐ प्रचण्ड !
आतंक जमाने वाले !
कम्पित जङ्गम-नीड़-विहङ्गम
ऐ न व्यथा पाने वाले !
नभ के मायामय आङ्गन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर !

['परिमल' से]

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

खंडहर के प्रति

खँडहर ! खड़े हो तुम आज भी ?
अद्भुत अज्ञात उस पुरातन के मलिन साज !
विस्मृति की नींद से जगाते हो क्यों हमें—
करुणाकर, करुणामय गीत सदा गाते हुए ?
पवन-संचरण के साथ ही
परिमल-पराग-सम अतीत की विभूति-रज-
आशीर्वाद पुरुष-पुरातन का
भेजते सब देशों में;
क्या है उद्देश तव ?
बन्धन-विहीन भव !
ढीले करते हो भव-बन्धन नर-नारियों के ?
अथवा,
हो मलते कलेजा पड़े जरा-जीर्ण,
निर्निमेष नयनों से
बाट जोहते हो तुम मृत्यु की
अपनी संतानों से बूंद भर पानी को तरसते हुए ?
किंवा, हे यशोराशि !
कहते हो आँसू बहाते हुए—
"आर्त भारत ! जनक हूं मैं

जैमिनि-पतञ्जलि-व्यास ऋषियों का;
मेरी ही गोद पर शैशव-विनोद कर
तेरा है बढ़ाया मान
राम-कृष्ण-भीमार्जुन-भीष्म-नरदेवों ने।
तुम ने मुख फेर लिया,
सुख की तृष्णा से अपनाया है गरल,
हो बसे नव छाया में,
नव स्वप्न ले जगे,
भूले वे मुक्त प्रान, साम-गान, सुधा-पान।"
बरसो आसीस, हे पुरुष-पुराण,
तव चरणों में प्रणाम है।

['अनामिका' से]

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

सन्तप्त

अपने अतीत का ध्यान
करता मैं गाता था गाने भूले अम्रीयमाण।
एकाएक क्षोभ का अन्तर में होते संचार
उठी व्यथित उङ्गली से एक कातर एक तीव्र झंकार,
विकल वीणा के टूटे तार!
मेरा आकुल क्रन्दन,
व्याकुल वह स्वर-सरित-हिलोर
वायु में भरती करुण मरोर
बढ़ती है तेरी ओर।
मेरे ही क्रन्दन से उमड़ रहा यह तेरा सागर
सदा अधीर,
मेरे ही बंधन से निश्चल—
नंदन-कुसुम-सुरभि-मधु-मदिर समीर;
मेरे गीतों का छाया अवसाद,
देखा जहाँ, वहीं है करुणा,
घोर विषाद।
ओ मेरे!—मेरे बंधन-उन्मोचन!
ओ मेरे!—ओ मेरे क्रन्दन-वन्दन!
ओ मेरे अभिनन्दन!
ये सन्तप्त लिप्त कब होंगे गीत,
हृत्तल में तव जैसे शीतल चन्दन!

['अनामिका' से]

ज्येष्ठ

(१)

ज्येष्ठ ! क्रूरता-कर्कशता के ज्येष्ठ ! सृष्टि के आदि !

वर्ष के उज्ज्वल प्रथम प्रकाश !

अन्त ! सृष्टि के जीवन के हे अन्त ! विश्व के व्याधि !

चराचर के हे निर्दय त्रास !

सृष्टि भर के व्याकुल आह्वान !—अचल विश्वास !

सृष्टि भर के शङ्कित अवसान !—दीर्घ निश्वास !

देते हैं हम तुम्हें प्रेम-आमन्त्रण,

आओ जीवन-शमन, बन्धु, जीवन धन !

(२)

घोर-जटा-पिङ्गल मङ्गलमय देव ! योगी-जन-सिद्ध

धूलि धूसरित, सदा निष्काम !

उग्र ! लपट यह लू की है या शूल—करोगे बिद्ध

उसे जो करता हो आराम !

बताओ, यह भी कोई रीति ? छोड़ घर द्वार,

जगाते हो लोगों में भीति,—तीव्र संस्कार !—

या निष्ठुर पीड़न से तुम नव जीवन

भर देते हो, बरसाते हैं तब घन !

(३)

तेजःपुञ्ज ! तपस्या की यह ज्योति—प्रलय साकार;
उगलते आग धरा आकाश;
पड़ा चिता पर जलता मृत गत वर्ष प्रसिद्ध असार,
प्रकृति होती है देख निराश !
सुरधुनी में रोदन-ध्वनि दीन— विकल उच्छ्वास,
दिग्वधू की पिक-वाणी क्षीण—दिगन्त उदास;
देखा जहाँ वहीं है ज्योति तुम्हारी,
सिद्ध ! काँपती है यह माया सारी।

(४)

शाम हो गई, फैलाओ वह पीत गेरुआ वस्त्र,
रजोगुण का वह अनुपम राग;
कर्मयोग की विमल पताका और मोह का अस्त्र,
सत्य जीवन के फल का—त्याग।
मृत्यु में, तृष्णा में अभिराम एक उपदेश,
कर्ममय, जटिल, तृप्त, निष्काम, देव, निश्शेष !
तुम हो वज्र-कठोर किन्तु देवव्रत,
होता है संसार अतः मस्तक-नत।

['अनामिका' से]

दिल्ली

क्या यह वही देश है—
भीमार्जुन आदि का कीर्ति क्षेत्र,
चिरकुमार भीष्म का पताका ब्रह्मचर्य-दीप्त
उड़ती है आज भी जहाँके वायुमण्डल में
उज्ज्वल, अधीर और चिरनवीन ?—
श्रीमुख से कृष्ण के सुना था जहाँ भारत ने
गीता-गीत—सिंहनाद—
मर्मवाणी जीवन-संग्राम की—
सार्थक समन्वय ज्ञान-कर्म-भक्ति-योग का ?

यह वही देश है
परिवर्तित होता हुआ ही देखा गया जहां
भारत का भाग्य चक्र ?—
आकर्षण तृष्णा का
खींचता ही रहा जहां पृथ्वी के देशों को
स्वर्ण-प्रतिमा की ओर ?—
उठा जहां शब्द घोर
संसृति के शक्तिमान दस्युओं का अदमनीय,
पुनः पुनः बर्बरता विजय पाती गई
सभ्यता पर, संस्कृति पर,

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

कांपे सदा रे अधर जहाँ रक्तधारा लख
आरक्त हो सदैव।

क्या यह वही देश है—
यमुना पुलिन से चल
'पृथ्वी' की चिता पर
नारियों की महिमा उस सती संयोगिता ने
किया आहूत जहां विजित स्वजातियों को
आत्म-बलिदान से :—
पढ़ो रे, पढ़ो रे पाठ,
भारतके अविश्वस्त अवनत ललाट पर
निज चिताभस्म का टीका लगाते हुए,—
सुनते ही रहे खड़े भय से विवर्ण जहां
अविश्वस्त संज्ञाहीन पतित आत्मविस्मृत नर ?
बीत गये कितने काल,

क्या यह वही देश है
बदले किरीट जिसने सैकड़ों महीप-भाल ?
क्या यह वही देश है
सन्ध्या की स्वर्णवर्ण किरणों में
दिग्वधू अलस हाथों से
थी भरती जहाँ प्रेम की मदिरा,—

पीती थीं वे नारियाँ
बैठी झरोखे में उन्नत प्रसाद के?—
बहता था स्नेह-उन्माद नस-नस में जहाँ
पृथ्वी की साधना के कमनीय अङ्गों में?—
ध्वनिमय ज्यों अन्धकार
दूरगत सुकुमार
प्रणयियों की प्रिय कथा
व्याप्त करती थी जहाँ
अम्बर का अन्तराल ?
आनन्द-धारा बहती थी शत लहरों में
अधर के प्रान्तों से;
अतल हृदय से उठ
बाँधे युग बाहुओं के
लीन होते थे जहाँ अन्तहीनता में मधुर ?—
खिलते सरोवर के कमल परागमय
हिलते डुलते थे जहाँ
स्नेह की वायु से, प्रणय के लोक में
आलोक प्राप्त कर !
रचे गये गीत,
गये गाये जहाँ कितने राग
देश के, विदेश के !

बही धाराएं जहाँ कितनी किरणों को चूम !
कोमल निषाद भर
उठे वे कितने स्वर !
कितनी वे रातें
स्नेह की बातें रक्खे निज हृदय में
आज भी हैं मौन जहां !
यमुना की ध्वनि में
है गूंजती सुहाग-गाथा
सुनता है अन्धकार खड़ा चुपचाप जहां !
आज वह 'फ़िरदौस',
सुनसान है पड़ा।
शाही दीवान-आम स्तब्ध है हो रहा,
दुपहर को, पार्श्व में,
उठता है झिल्लीरव,
बोलते हैं स्यार रात यमुना-कछार में,
लीन हो गया है रव
शाही अङ्गनाओं का,
निस्तब्ध मीनार,
मौन हैं मकबरे :—
भय में आशा को जहाँ मिलते थे समाचार,
टपक पड़ता था जहां आँसुओं में सच्चा प्यार !

['अनामिका' से]

तोडती पत्थर

वह तोड़ती पत्थर;
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर।

कोई न छायादार
पेड़ वह जिस के तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, भर बंधा यौवन
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार :—
सामने तरु मालिका अट्टालिका, प्रकार।
चढ़ रही थी धूप;
गर्मियों के दिन,
दिवाका तमतमाता रूप;
उठी झुलसाती हुई लू,
रुई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगीं छा गई,
प्रायः हुई दोपहर :—
वह तोड़ती पत्थर।

देखते देखा मुझे तो एक बार

उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार;
देख कर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं,
सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झङ्कार।
एक छन के बाद वह कांपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा—

'मैं तोड़ती पत्थर।'
['अनामिका से']

प्रकृति–दर्शन

एक दिन, सखागणसंग, पास,
चल चित्रकूटगिरि, सहोच्छ्वास,
देखा पावन नव,नव प्रकाश मन आया,
वह भाषा—छिपती छवि सुन्दर
कुछ खुलती आभा में रंग कर,
वह भाव कुरल-कुहरे-सा भर कर आया।

प्रकृति-दर्शन

केवल विस्मय मन, चित्य नयन,
परिचित कुछ, भूला ज्यों प्रियजन—
ज्यों दूर दृष्टि को धूमिल-तन तट-रेखा,

हो मध्य तरंगाकुल सागर
निःशब्द स्वप्नसंस्कारागर,
जल में अस्फुट छवि छायाधर, यों देखा।

तरु तरु, वीरुध् वीरुध्, तृण तृण
जाने क्या हँसते मसृण मसृण,
जैसे प्राणों से हुए उऋण, कुछ लख कर;

भर लेने को उर में, अथाह,
बाँहों में फैलाया उछाह;
गिनते थे दिन, अब सफल-चाह पल रख कर।

कहता प्रति जड़, 'जंगम-जीवन !
भूले थे अब तक बंधु, प्रमन ?
यह हताश्वास मन भार श्वास भर बहता,

तुम रहे छोड़ गृह मेरे कवि,
देखो यह धूलि धूसरित छवि,
छाया इस पर केवल जड़ रवि खर दहता।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

"हनती आँखों की ज्वाला चल,
पाषाण-खंड रहता जल-जल,
ऋतु सभी प्रबलकर बदल-बदल कर आते।

वर्षा में पंक-प्रवाहित सरि,
है शीर्ण-काय-कारण हिम अरि,
केवल दुख दे कर उदरंभरि जन जाते।

"फिर असुरों से होती क्षण-क्षण
स्मृति की पृथ्वी यह, दलित-चरण;
वे सुप्त भाव, गुप्ताभूषण अब हैं सब;

इस जग के मग के मुक्त-प्राण!
गाओ—विहंग!—सद्ध्वनित गान,
त्यागोज्जीवित, वह ऊर्ध्व ध्यान, धारा-स्तव।

"लो चढ़ा तार—लो चढ़ा तार,
पाषाण—खंड ये, करो हार,
दे स्पर्श अहल्योद्धार-सार उस जग का;

अन्यथा यहाँ क्या? अंधकार,
बंधुर पथ, पंकिल सरि, कगार,
झरने, झाड़ी, कंटक; विहार पशु-खग का!

'अब स्मर के शर-केशर से भर,
रंगती रज-रज पृथ्वी, अंबर,
छाया उससे प्रतिमानस-सर शोभाकर,

छिप रहे उसी से वे प्रियतम
छवि के निश्छल देवता परम,
जागरणोपम यह सुप्ति-विरम भ्रम, भ्रम भर।"

वह कर समीर ज्यों पुष्पाकुल,
वन को कर जाती है व्याकुल
हो गया चित्त कवि का त्यों तुल कर उन्मन;

वह उस शाखा का वन-विहंग
उड़ गया मुक्त नभ निस्तरंग
छोड़ता रंग पर रंग—रंग पर जीवन।

दूर, दूरतर, दूरतम, शेष,
कर रहा पार मन नभोदेश,
सजता सुवेश फिर-फिर सुवेश जीवन पर,

छोड़ता रंग, फिर फिर सँवार
उड़ती तरंग ऊपर अपार
संध्या-ज्योतिः ज्यों सुविस्तार अंबर तर।

उस मानस ऊर्ध्व देश में भी
ज्यों राहु-ग्रस्त आभा रवि की,
देखी कवि ने छवि छाया-सी, भरती सी—

भारत का सम्यक् देश काल,
खिंचता जैसे तम-शेष जाल,
खींचती, बृहत से अंतराल करती सी।

बंध भिन्न-भिन्न भावों के दल
क्षुद्र से क्षुद्रतर, हुए विकल,
पूजा में भी प्रतिरोध अनल है जलता,

हो रहा भस्म अपना जीवन,
चेतना हीन फिर भी चेतन,
अपने ही मन को यों प्रांत मन है छलता।

इसने ही जैसे बार बार
दूसरी शक्ति की की पुकार—
साकार हुआ ज्यों निराकार, जीवन में

यह उसी शक्ति से है बलयित
चित देश काल का सम्यक् जित,
ऋतु का प्रभाव जैसे संचित तरु तन में।

प्रकृति दर्शन

विधि की इच्छा सर्वत्र अटल;
यह देश प्रथम ही था हत-बल,
वे टूट चुके थे ठाठ सकल वर्णों के;

तृष्णोद्धत, स्पर्धागत, सगर्व;
क्षत्रिय रक्षा से रहित सर्व,
द्विज चाटुकार; हत इतर वर्ग पर्णों के।

चलते फिरते, पर निःसहाय,
वे दीन, क्षीण कंकालकाय,
आशा केवल जीवनोपाय उर उर में;

रण के अश्वों से शस्य सकल
दलमल जाते ज्यों, दल के दल
शूद्रगण क्षुद्र-जीवन-संबल, पुर पुर में।

वे शेष श्वास, पशु, मूक भाष,
पाते प्रहार अब हताश्वास,
सोचते कभी, आजन्म ग्रास द्विजगण के

होना ही उनका धर्म परम,
वे वर्णाधम, रे द्विज उत्तम,
वे चरण—चरण बस, वर्णाश्रम रक्षण के

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

रक्खा उन पर गुरु-भार, विषम
जो पहला पद, अब मद-विष-सम,
द्विज लोगों पर इसलाम-तम वह छाया,

जो देश काल को आवृत कर,
फैली है सूक्ष्म मनोनभ पर,
देखी कवि ने, समझा अव—वर, क्या माया।

इस छाया के भीतर हैं सब,
है बंधा हुआ सारा कलरव,
भूले सब इस्[illegible]तम का आसव पी-पी कर।

इसके भीतर रहे देश—काल
हो सकेगा न रे मुक्त-भाल,
पहले का-सा उन्नत विशाल ज्योतिःसर।

दीनों की भी दुर्बल पुकार
कर सकती नहीं कदापि पार
पार्थिवैश्वर्य का अंधकार पीड़ाकर,

जब तक कांक्षाओं के प्रहार
अपने साधन को बार—बार
होंगे भारत पर इस प्रकार तृष्णापर।

प्रकृति-दर्शन

सोचा कवि ने, मानस-तरंग,
यह भारत-संस्कृति पर सभंग
फैली जो, लेती संग संग जन-गण को,

इस अनिल वाह के पार प्रखर
किरणों का वह ज्योतिर्मय घर,
रविकुल जीवन-चुंबनकर मानस-धन जो।

है वही मुक्ति का सत्य रूप,
यह कूप-कूप भव—अंध कूप;
वह रंक, यहाँ जो हुआ भूप, निश्चय रे।

चाहिये उसे और भी और
फिर साधारण को कहाँ ठौर?
जीवन के, जग के, यही तौर हैं जय के।

करना होगा यह तिमिर पार—
देखना सत्य का मिहिर द्वार—
बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय—

लड़ना विरोध से द्वंद्व समर,
रह सत्य मार्ग पर स्थिर निर्भर—
जाना, भिन्न भी देह, निज घर निःसंशय।

['तुलसीदास' से]

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

परिचय

कविवर सुमित्रानन्दन जी पंत का जन्म १९५८ संवत में अलमोड़ा जिले के कसौनी ग्राम में हुआ। आपके पिता श्री गंगादत्त जी पंत एक सम्पन्न तथा कुलीन ब्राह्मण परिवार के व्यक्ति थे। आप स्वभाव से धर्म निष्ठ और सदाचारी सज्जन थे। पं० सुमित्रा-नन्दन जी चार भाई हैं। आप सबसे छोटे हैं। आपके तीनों बड़े भाई सुशिक्षा प्राप्त तथा प्रतिष्ठा सम्पन्न हैं। पंत जी ने १६ वर्ष की आयु में अपना स्कूल जीवन समाप्त किया, और प्रयाग के म्योर कालिज में दाखिल हुए। यहाँ कुछ दिनों तक अध्ययन करके बीच में ही आपने पढ़ना छोड़ दिया और बाहर रहकर अपनी रुचि के अनुकूल काव्य-साहित्य का परिशीलन करने में आप तत्पर हुए।

पंत जी एक समृद्ध परिवार में उत्पन्न हुए हैं, इसलिए बिना किसी आर्थिक विघ्न बाधा के,—सानन्द स्वेच्छा आप जीवन व्यतीत करते हैं। संस्कृत, हिन्दी, अंगरेजी, बंगला आदि भाषाओं

के सरस साहित्य का आनन्द लेना, और अपनी मधुर काव्य-कृतियाँ मातृ-भाषा हिन्दी के अर्पण करना—यही मानो आपके जीवन का ध्येय बन गया है।

पंत जी प्राकृतिक-शोभा-प्रधान गिरि-प्रदेश के निवासी हैं। परिवार आपका समृद्ध, घराना कुलीन और जीवन निश्चिन्त होने के कारण, कवि-जीवन बिताने के लिये आपको एक नैसर्गिक प्रेरणा मिली है। पं० सुमित्रानन्दन जी बचपन से ही पर्वतों की हरी-भरी घाटियों में खेले हैं, इसलिये प्राकृतिक-सौन्दर्य आपकी आँखों में बस गया है। कवि होने के लिये एक स्वाभाविक प्रतिभा की तो आवश्यकता होती ही है, परन्तु समीपवर्ती बाह्य परिस्थितियों का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। पंत जी की कवित्व-शक्ति के विकास में पर्वत-प्रदेश के इस रमणीक सौन्दर्य ने निस्सन्देह बहुत सहायता दी है। बाह्य प्रकृति के समान ही पंतजी को शरीर और मन भी सुन्दर और सरल मिले हैं। आप हिन्दी के कोमल-कान्त रचना करने वाले कवियों में सर्व-श्रेष्ठ माने जाते हैं।

पंडित सुमित्रानन्दन जी के मन पर वन-उपवन, नदी-निर्झर और गिरि-शिखर के परिवर्तन-शील तथा नित्य-नवीन सौन्दर्य ने एक स्थायी और प्रतिक्रिया-पूर्ण असर डाला। आपके हृदय में कल्पना जागृत हुई, और उसके फलस्वरूप बचपन से ही आपके अन्तःकरण में कविता के लिये स्फूर्ति होने लगी।

आपकी कविताओं का पहिला संग्रह सन् १६२१ में 'उच्छ्वास' नाम से प्रकाशित हुआ। यह बहुत थोड़े से पन्नों की पुस्तिका है। जिस शैली में आपने इस पुस्तक की कवितायें लिखीं उस पर प्रारम्भ में हिन्दी-जगत् के अन्दर प्रतिकूल आलोचनायें हुईं। फिर भी आप इसी शैली पर स्वच्छन्दता पूर्वक लिखते रहे। आपकी रचनाओं को भाग्य से एक विख्यात पत्रिका के सम्पादक का आश्रय मिला, और ये क्रमशः प्रकाशित होने लगीं। इन कविताओं को नवयुवक काव्य-प्रेमियों ने खूब पसन्द किया।

इस समय तक पंत जी की कविताओं के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनके नाम 'उच्छ्वास', 'पल्लव', 'वीणा', 'गुंजन', 'युगांत,' 'युग-वाणी', 'ग्राम्या' और 'पल्लविनी' हैं। 'ग्रन्थि' नाम से आपने एक वियोगान्त प्रेम-कहानी भी कविता-बद्ध की है। इधर कुछ समय से पंत जी कभी-कभी कहानियाँ भी लिखते हैं। इनका 'पाँच कहानियाँ' इस नाम से एक संग्रह प्रकाशित हो गया है। आपने 'परी', 'क्रीड़ा', 'रानी' नाम के नाटकों की और 'हार' नामक उपन्यास की भी रचना की है।

पंत जी की कविता

पंत जी की कविताओं के यह संग्रह जब प्रकाशित होने शुरू हुए, उस समय नवीनता प्रेमी काव्य-रसिकों ने तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता से अपनाया, परन्तु कुछ आलोचकों ने उन पर प्रतिकूल

व्यंग किये। उनकी इस उलटी आलोचना का प्रधान लक्ष्य पंत जी की कविताओं का 'छन्द' था। पंत जी ने प्रारम्भ से ही मात्रा-छन्द या अक्षर-छन्द की सीमा से बाहर निकल कर अपनी कविताओं में तुक-विहीन स्वच्छन्द 'छन्द' का प्रयोग किया था। प्राचीन पिंगल शास्त्र की परम्परागत मर्यादा के तोड़े जाने पर ऐसे विरोध का उठना कुछ स्वाभाविक ही था, परन्तु धीरे-धीरे कुछ समय पश्चात् इस स्वच्छन्दता के प्रति लोगों में रुचि होने लगी, और अब हिन्दी में काल्पनिक छन्द में कविता लिखने को असाधारण साहित्यिक अपराध नहीं समझा जाता।

ऐसा ज्ञात होता है कि प्रकृति की स्वच्छन्द गोद में पले हुए कवि श्री पन्त जी ने परम्परागत 'छन्द' के बन्धन को अपनी कविता के स्वाभाविक प्रवाह और विकास में बाधक पाया। उन्हों ने अनुभव किया कि मेरा अन्तःकरण कल्पना के विषयानुरूप प्रवाह को जैसा बेरोक बखेर देना चाहता है वह किसी एक छन्द की चारदीवारी के अन्दर रह कर वैसा कर नहीं पाता। उन्होंने अन्य समृद्ध भाषाओं—अंग्रेजी, बँगला आदि—की ओर दृष्टि डाली, और देखा कि जो कुछ आज मैं अनुभव कर रहा हूँ वही दूसरी भाषाओं के किन्हीं कवियों ने भी एक दिन अनुभव किया था। यह स्पष्ट था कि उन कवियों ने छन्दों के परम्परागत बन्धन

शिथिल किये; और विरोध सह कर भी अपने काव्य-गुण के बल पर ख्याति प्राप्त की। यह सब कुछ अनुभव करते हुये श्री पंत जी ने अपनी प्रेरणा के अनुकूल कम से कम बन्धनों वाले छन्दों में रचनायें लिखीं, और अनेक ऐसी कवितायें लिखीं जो प्राचीन छन्दःशास्त्र के अनुसार छन्दोविहीन कही जा सकती थीं। कहना न होगा कि पंत जी की रचनाओं पर प्राचीन छन्दःशास्त्र की दृष्टि से अब प्रतिकूल आलोचनायें नहीं निकलतीं और हिन्दी-भाषा ने इस नवीनता को अपना लिया है।

छन्द के पश्चात् पंत जी की कविताओं में, शब्दों के लिंग-सम्बन्धी दोषों की ओर भी आलोचकों ने संकेत किया। साथ ही कुछ ऐसे शब्दों का भी उपहास किया जो अब तक या तो काव्य में प्रयुक्त ही न होते थे, या जिन्हें पंत जी ने अपने किसी विशेष भाव को स्पष्ट करने के लिये अपनी ओर से बना कर प्रयुक्त कर दिया था। पन्त जी ने कुछ 'पुल्लिंग' शब्दों को 'स्त्री लिंग' में, और 'स्त्री लिंग' शब्दों को 'पुल्लिंग' में प्रयुक्त किया था। कविता में कोमलता और भाव की दृष्टि से पंत जी के द्वारा ऐसा किया जाना चाहे उचित ही रहा हो, परन्तु यह लिंग-विपर्यय आम प्रयोग के लिये अब तक भी हिंदी-जगत् में मान्य नहीं हुआ है। हाँ, उनके द्वारा प्रयुक्त किए गये कुछ अप्रयुक्त शब्दों को तथा कतिपय 'बनाये गये' सर्वथा नवीन शब्दों को हिन्दी-जगत् ने अवश्य अपना सा लिया है,

क्यों कि इस प्रकार के शब्दों का कविताओं के अन्दर चलन जारी हो गया है।

छन्द और शब्दों के साथ ही पन्त जी ने भाषा को भी अपनी कविताओं के अन्दर कुछ नया ही रूप दिया। पन्त जी से पहिले तक हिन्दी की कविताओं में खड़ी बोली की कठोरता या 'खरखरापन' बराबर चला आ रहा था। इस दोष का परिमार्जन भी बहुत कुछ पन्त जी के द्वारा हुआ। भाषा में मधुरता लाने के लिये पन्त जी ने संस्कृत के सरल और मृदु-व्यञ्जन-युक्त शब्दों का आश्रय लिया। कहीं-कहीं उन्होंने ग्रामीण बोली के, ब्रजभाषा के या आम बोल-चाल के भी शब्दों को (माधुर्य देख कर) अपनाया; शब्दों के लिंगों में हेर फेर किया और क्रियाओं का कविता के अन्दर से बहिष्कार-सा कर दिया। इस प्रकार जहाँ तक बना उन्होंने खड़ी बोली की कविताओं में कोमल पदावली का सन्निवेश किया। उनकी कोई कविता उठा कर देखी जाय, जान पड़ेगा मानो मृदुल शब्द सुन्दर शिशुओं के समान मन्द-मन्द चरण-विक्षेप करते हुये क्रीड़ा सी कर रहे हैं।

यहाँ तक हमने पन्त जी की कविता के बाह्यरूप पर एक दृष्टि डाली है। अब उसकी आन्तरिक विशेषताओं पर सरलता से कुछ कहा जा सकता है। यह प्रथम लिखा जा चुका है कि पन्त जी को बचपन से प्राकृतिक शोभा में रहने

का अवसर मिला है। फलतः उनका प्रकृति-प्रेमी होना और प्रकृति-परक सुन्दर कवितायें लिखना स्वाभाविक है। प्राकृतिक शोभा पर अनेक कवियों ने उत्कृष्ट कवितायें लिखी हैं, परन्तु पन्त जी में उस शोभा को—उसके वर्णनीय सौंदर्य को—तद्बोधक झंकृति-विशेष-युक्त शब्दों द्वारा, तथा छन्द की बिखरी हुई लड़ियों की विशेष शृंखला द्वारा पाठक के सन्मुख चित्रित कर देने की अद्भुत क्षमता है।

उनकी प्रकृति-परक कविताओं में एक और भी विशेषता मिलती है। ऐसा देखने में आता है कि पन्त जी की प्रकृति-परक रचनाओं में सौंदर्य वर्णन के साथ-साथ कोई मानव-शिशु भी किलकारी-सी भर रहा है। उनकी 'बसन्त-श्री' में मानो एक बालिका विस्मित चकित-सी होकर अपनी जननी को कुछ सम्बोधन कर रही है। 'निर्झरी' नामक कविता में कोई बालक अपनी सहेली उस 'गिरि-नदी' के निकट बैठा बाल्य-कालीन संलाप में निमग्न है। इसी प्रकार 'उच्छ्वास' की रचनाओं में वर्षा-कालीन प्राकृतच्छटा के वर्णन के साथ साथ दो बालक बालिकाओं के शिशु-जीवन की प्रेम-स्मृतियाँ जुड़ी हुई स्पष्ट नजर आती हैं। यह सब विशिष्ट संकेत इस बात को सूचित करते हैं कि पन्त जी की प्राकृतिक सुषमा में कितनी तल्लीनता और उसके साथ उनका कितना चिरकालिक सम्पर्क रहा है।

सम्भवतः इस घनिष्ट सहभाव के कारण ही पन्त जी के प्रकृति-वर्णन में कोरी सृष्टि शोभा का ही चित्र नहीं मिलता, बल्कि उसके साथ-साथ मानव जीवन के सुख-दुःख भी लिपटे गुँथे चले जा रहे हैं। इतना ही नहीं, प्राकृतिक परिवर्तनों में किसी चैतन्य शक्ति का व्यापार कवि को पद-पद पर भासित हुआ है। उसके मानस-चक्षु अचर सृष्टि के भी हर्ष, विस्मय, संकोच, विषाद, स्मृति आदि का साक्षात् दर्शन-सा करते हैं। प्रकृति मानो विराट् मानव की जन्म-जन्मान्तर से संचित इच्छाओं और विफलताओं के परिणाम स्वरूप विभिन्न आवेगों को अपने अन्दर निशि-दिन प्रतिफलित कर रही है।

प्राकृतिक रचनाओं के अतिरिक्त पन्त जी ने मानवजीवन के अनेक पहलुओं के भी काव्य-चित्र अङ्कित किये हैं। वैधव्य, बचपन, कौमार्य आदि की पूर्व-स्मृति-परक अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण इन रचनाओं में मिलता है।

पन्त जी की अनेक रचनायें ऐसी भी मिलती हैं जो प्रकृति से अलग 'आत्म' के निकट किसी 'पर' का आवाहन, आतिथ्य और वरण करती हैं। 'पर' नाम से संबोधित की गई यह चेतनसत्ता कवि के निकट चिरपरिचित सी देख पड़ती है। उनके लिये उनके हृदय में जो स्पृहा, आसक्ति या आकर्षण उदित होता है वह सर्वथा स्वाभाविक-सा जान पड़ता

है। इस के उदाहरण स्वरूप उनकी 'निष्ठुरता' नामक कविता देखी जा सकती है।

पन्त जी की इन सब रचनाओं में उनकी भाषा और छन्द-संबंधिनी पूर्व-कथित विशेषतायें स्पष्ट देखने में आती हैं। उनके कहने का ढंग प्रायः किसी आत्मीय-भाव या सख्य-भाव को लिये होता है। आक्रोश, व्यंग या तीव्रता कहीं दिखाई नहीं पड़ते। उनके सम्बोधन तक मधुरता से ओत-प्रोत हैं। यह प्रायः अलि !, बाले !, सखि !, रंगिणि !, माँ !, अथवा हे सुवर्ण-मय !, हे प्राण प्रिय, हे सुन्दर ! आदि के ढंग के होते हैं, जिनसे सामीप्य और स्नेह-भाव का उदय होता है। पन्त जी की प्रायः प्रत्येक रचना में मधुर शब्दावली के साथ-साथ लोकोत्तर कल्पनायें और नवीन से नवीन उपमान दिखाई देते हैं। उनकी उत्प्रेक्षायें भी अद्भुत ही होती हैं। पन्त जी की कविता की यह सब विशेषतायें कुछ ऐसी हैं जिनके कारण अन्य कवियों की रचनाओं के अन्दर उनकी विशिष्ट रचना साफ़ साफ़ अलग देखी जा सकती है। कवि ने यह 'नवीन मधु' कहाँ-कहाँ से संचित किया होगा, इसकी वृथा कल्पना में न पड़ते हुए इतना अनुमान तो कर ही सकते है कि देशी और विदेशी साहित्यों के नव्य तथा जीवनप्रद काव्यों के अनुशीलन ने उन्हें नई प्रेरणायें और नवीन उन्मेष प्रदान किये हैं।

यहाँ तक पंत जी के काव्य में प्रवाहित होने वाली दो एक धाराओं का मुख्यतया उल्लेख इसलिये कर दिया है ताकि उनकी कविता की कुछ विशेषताओं से परिचय प्राप्त किया जा सके। यदि उनके सारे काव्य पर विश्लेषणात्मक दृष्टि डाली जाय तो हम कह सकते हैं कि पंत जी की कविताओं में 'कल्पना' की प्रधानता है। वैसे तो कविता का जन्म ही कल्पना के द्वारा होता है, और भाव के बिना केवल कोरी कल्पना से ही कविता का निर्माण नहीं हुआ करता। परन्तु समझने की सुविधा के लिये 'भाव-प्रधान' और 'कल्पना-प्रधान' यह दो भाग कविता के कर दिये गये हैं। इन्हीं में से 'कल्पना-प्रधान' काव्य के अन्तर्गत पंत जी की कविता मानी जा सकती है। हिन्दी-साहित्य में जिस प्रकार 'प्रसाद' जी 'भाव-प्रधान' कवि कहे जा सकते हैं उसी प्रकार पंत जी को हम 'कल्पना-प्रधान' कवि मान सकते हैं।

संक्षेप में श्री सुमित्रानन्दन जी पंत की कविता में भाषा अत्यन्त मधुर और छन्द निराले रहते हैं। उनकी शैली आत्मीयता द्योतक है। रचनाओं के अन्दर कल्पना की ऊँची उड़ान, नये नये उपमान और सुकुमार भावनाओं की ललित व्यञ्जना पाई जाती है। नये-नये विषयों की उद्भावना करने की आप में विलक्षण सूझ है। परन्तु इसके साथ ही समान ध्वनि के शब्दों को कविता में एकत्रित करते समय आपकी रचना में कहीं-कहीं पुनरुक्ति, क्लिष्टता और वृथा शब्द-जाल का दोष आ

बैठता है ! आपकी इसी बात को पकड़ कर कुछ परिहास लेखकों ने अनेक 'पैरोडी' या उपहास-पूर्ण कवितायें भी लिखी हैं। कल्पना-प्रिय होने के कारण पंत जी अपनी कविताओं में कहीं-कहीं इतना ऊँचा उड़े हैं कि 'बहके हुए' से मालूम पड़ते हैं। नई बात कहने की धुन में आप कुछ रचनायें अस्पष्ट और रहस्यमयी-सी भी बना गये हैं।

इतना सब कुछ होते हुए भी श्री सुमित्रानन्दन जी पंत हिन्दी कविता में एक नवीन पथ-प्रदर्शित करने वाले और युग-सन्देश को सुनाने वाले अप्रतिम कवि हैं। आपकी रचनायें हिन्दी-काव्य जगत् की बहुमूल्य निधियों के समान हैं। पंत जी से हिन्दी को अभी बड़ी-बड़ी आशायें हैं।

सावन

सिसकते, अस्थिर मानस से
बाल-बादल-सा उठ कर आज
सरल अस्फुट उच्छ्वास !

अपने छाया के पंखों में
(नीरव-घोष भरे शंखों में)
मेरे आँसू गूँथ फैल गम्भीर-मेघ सा,
आच्छादित करले सारा आकाश !

यह अमूल्य मोती का साज,
इन सुवर्णमय, सरल परों में
(शुचि-स्वभाव से भरे स्वरों में)
तुझ को पहिना जगत देखले; यह स्वर्गीय प्रकाश !
मन्द, विद्युत-सा हँस कर,
वज्र-सा उर में धँस कर,

गरज, गगन के गान ! गरज गम्भीर स्वरों में,
भर अपना सन्देश उरों में, औ' अधरों में;
बरस धरा में, बरस सरित, गिरि, सर सागर में,
हर मेरा सन्ताप, पाप जग का क्षणभर में।

['उच्छ्वास' से]

सुमित्रानन्दन पंत

शिशु की मुसकान

कैसा नीरव मधुर-राग यह
शिशु के कम्पित अधरों पर
सजनि ! खिल रहा है रह-रह !

किन स्वप्नों की स्मृति सुखमय
उदय हुई है यह अक्षय !
आँख-मिचौनी सी अधरों से
कौन खेलता है छिप कर,
मृदु-मुसकानों में बह-बह !

अलि ! यह किसका सरल-हृदय
अधरों पर बिम्बित छविमय ?
यह किसकी जीवित-छाया है ?
किस नव-नाटक का उपक्रम ?
किन भावों का चित्र चरम ?

अये मृदुल ! यह किस के गीत
गाते हो तुम मधुर पुनीत ?
प्रकट क्यों न कुछ कहते हो ? क्या
वे इतने हैं गुप्त, परम ?
यह कैसा परिहास, सुषम !

['वीणा' से]

आकांक्षा

मैं सब से छोटी होऊँ
तेरी गोदी में सोऊँ
तेरा अञ्चल पकड़-पकड़ कर
फिरूँ सदा माँ तेरे साथ
कभी न छोड़ूँ तेरा हाथ !

बड़ा बना कर पहिले हमको
तू पीछे छलती है मात
हाथ पकड़ फिर सदा हमारे
साथ नहीं फिरती दिन-रात
अपने कर से खिला, धुला मुख
धूल पोंछ, सज्जित कर गात,
थमा खिलौने, नहीं सुनाती
हमें सुखद परियों की बात।

ऐसी बड़ी न होऊँ मैं
तेरा स्नेह न खोऊँ मैं
तेरे अंचल की छाया में
छिपी रहूं निस्पृह, निर्भय,
कहूँ—दिखा दे चन्द्रोदय !

['वीणा' से]

बताऊँ मैं कैसे सुन्दर !
एक हूँ मैं तुम से सब भांति ?
जलद हूँ मैं, यदि तुम हो स्वाति,
तृषा तुम, यदि मैं चातक-पांति !
दिखा सकता है क्या शुचि-सर
कभी अपना अनन्य समतल ?
कहो क्या दर्पण ही निर्मल
दिखा सकता निज मुख उज्ज्वल ?
कौन हो तुम हर के भीतर
बताऊँ मैं कैसे सुन्दर ?

['वीणा' से]

याचना

बना मधुर मेरा जीवन
नव नव सुमनों से चुन चुन कर
धूलि, सुरभि, मधुरस, हिम-कण,
मेरे उर की मृदु-कलिका में
भरदे, करदे विकसित मन ।
बना मधुर मेरा भाषण !
वंशी-से ही करदे मेरे
सरल प्राण औ' सरस वचन

जैसा-जैसा मुझ को छेड़ूँ,
बोलूँ अधिक, मधुर, मोहन,
जो अकर्ण-अहि को भी सहसा
करदे मन्त्र-मुग्ध नत-फन,
रोम रोम के छिद्रों से मा!
फूटे तेरा राग गहन,
बना मधुर मेरा तन, मन!

['पल्लव' से]

निर्झरी

यह कैसा जीवन का गान
अलि! कोमल कल् मल् टल् मल्?
अरी शैल-बाले! नादान!
यह अविरल कल् कल् छल् छल्?

झर् झर् कर पत्रों के पास,
रण मण रोड़ों पर सायास,
हँस-हँस सिकता से परिहास,
करती हो तुम अलि! झलमल।

स्वर्ण-बेलि-सी खिली विहान,
निशि में तारों की-सी यान,
रजत-तार-सी शुचि रुचिमान,
फिरती हो रंगिणि ! कल् मल् ।

दिखा भंगिमय भृकुटि-विलास,
उपलों पर बहुरंगी-लास,
फैलाती हो फेनिल — हास,
फूलों के कूलों पर चल ।

अलि ! क्या वह केवल दिखलाव,
मूक व्यथा का मुखर-भुलाव ?
अथवा जीवन का बहलाव ?
सजल आँसुओं की अंचल !

वही कल्पना है दिन-रात,
बचपन औ' यौवन की बात;
सुख की वा दुख की अज्ञात !
उर अधरों पर है निर्मल ।

सरल सलिल की-सी कल-तान,
निखिल विश्व से निपट अजान,
विपिन रहस्यों की आख्यान !
गूढ़-बात है कुछ कल् मल् ।

['पल्लव' से]

आँसू

विरह है अथवा यह वरदान !
कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता सिसकता गान है;
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है !

वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान ।।

हाय ! किस के उर में,
उतारूं अपने उर का भार !
किसे अब दूं उपहार
गून्थ यह अश्रुओं का हार !!

मेरा पावस ऋतु-सा जीवन,
मानस-सा उमड़ा अपार मन;
गहरे, धुन्धले, धुले, सांवले,
मेघों से मेरे भरे नयन !

इन्द्रधनु-सा आशा का सेतु
अनिल में अटका कभी अछोर,
कभी कुहरे सी धूमिल, घोर,
दीखती भावी चारों ओर !

तड़ित-सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार, उर चीर,
गूढ़गर्जन कर जब गम्भीर
मुझे करता है अधिक अधीर ;

जुगनुओं-से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें नादान।

देखता हूँ, जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये ! भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को;

देखता हूँ, जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला।

तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
मुझे करता तब अन्तर्धान ;
न जाने तुम से मेरे प्राण
चाहते क्या आदान !

['पल्लव' से]

वसन्त-श्री

उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही मा!
वह अपनी वय-बाली में?
सजा हृदय की थाली में—

क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता,
मोद, मधुरिमा, हास, विलास,
लीला, विस्मय, अस्फुटता, भय,
स्नेह, पुलक, सुख सरल-हुलास!
ऊषा की मृदु-लाली में—

किसका पूजन करती पल-पल
बाल-चपलता से अपनी?
मृदु कोमलता से वह अपनी,
सहज सरलता से अपनी?
मधु ऋतु की तरु-डाली में—

रूप, रंग, रज, सुरभि, मधुर-मधु,
भर भर मुकुलित अंगों में
मा! क्या तुम्हें रिझाती है वह?
खिल खिल बाल-उमंगों में,
हिल मिल हृदय-तरंगों में!

['पल्लव' से]

सुमित्रानन्दन पंत

बालापन

चित्रकार ! क्या करुणा कर फिर मेरा भोला बालापन
मेरे यौवन के अंचल में चित्रित कर दोगे पावन ?
आज परीक्षा तो लो अपनी कुशल-लेखनी की भक्षन !
उसे याद आता है क्या वह अपने उर का भाव-रतन ?
जब कि कल्पना की तन्त्री में खेल रहे थे तुम करतार !
तुम्हें याद होगी, उससे जो निकली थी अस्फुट झंकार ?
हाँ, हाँ, वही, वही, जो जल, थल, अनिल, अनल, नभसे उसबार
एक बालिका के क्रन्दन में ध्वनित हुई थी, बन साकार
वही प्रतिध्वनि निज बचपन की कलिका के भीतर अविकार,
रज से लिपटी रहती थी नित, मधु-बाला की सी गुञ्जार;
यौवन के मादक हाथों ने उस कलिका को खोल अजान,
छीन लिया हा ! ओस बिन्दु सा मेरा मधुमय तुतला गान !
अहो विश्वसृज ! पुनः गून्थ दो वह मेरा बिखरा संगीत
मा की गोदी की थपकी से पला हुआ वह स्वप्न पुनीत।
वह ज्योत्स्ना से हर्षित मेरा कलित कल्पनामय संसार
तारों की विस्मय से विकसित विपुल भावनाओं का हार;
सरिता के चिकने-उपलों-सी मेरी इच्छाएँ रंगीन,
वह अजानता की सुन्दरता, वृद्ध-विश्व का रूप नवीन;
अहो कल्पनामय ! फिर रच दो वह मेरा निर्भय-अज्ञान,
मेरे अधरों पर वह मा के दूध से धुली मृदु मुसकान !

मेरा चिन्ता-रहित, अनलसित, वारि-बिम्ब सा विमल हृदय
इन्द्र-चाप सा वह बचपन के मृदुल अनुभवों का समुदय
स्वर्ण-गगन-सा, एक ज्योति से आलिंगित जग का परिचय,
इन्द्र-विचुम्बित बाल-जलद सा मेरी आशा का अभिनय;
इस अभिमानी अंचल में फिर अंकित कर दो, विधि ! अकलंक,
मेरा छीना बालापन फिर करुण ! लगा दो मेरे अंक !
विहग-बालिका का सा मृदु-स्वर, अर्ध-खिले, नव कोमल अंग,
क्रीड़ा-कौतूहलता मन की, वह मेरी आनन्द उमंग;
अहो दयामय ! फिर लौटा दो मेरी पद-प्रिय चञ्चलता
तरल-तरङ्गों-सी वह लीला, निर्विकार भावना लता।
धूल-भरे, घूँघराले, काले, भैय्या को प्रिय मेरे बाल,
माता के चिर-चुम्बित मेरे गोरे-गोरे सस्मित-गाल।
वह काँटों में उलझी साड़ी मंजुल फूलों के गहने,
सरल नीलिमामय मेरे दृग अश्रु-हीन, सङ्कोच-सने।
उसी सरलता की स्याही से सदय ! इन्हें अंकित कर दो,
मेरे यौवन के प्याले में फिर वह बालापन भर दो !
हा ! मेरे बचपन-से कितने बिखर गये जग के शृङ्गार !
जिनकी अविकच दुर्बलता ही थी जग की शोभालंकार।
जिनकी निर्भयता विभूति थी, सहज सरलता शिष्टाचार;
औ' जिनकी अबोध पावनता थी जग के मंगल की द्वार।
हे विधि ! फिर अनुवादित करदो उसी सुधा स्मिति में अनुपम
मा के तन्मय-उर से मेरे जीवन का तुतला उपक्रम !

['पल्लव' से]

सुमित्रानन्दन पंत

गुंजन

(१)

शान्त सरोवर का उर
किस इच्छा से लहरा कर
हो उठता चञ्चल, चञ्चल ?
सोए वीणा के सुर
क्यों मधुर स्पर्श से मर् मर्
बज उठते प्रति पल, प्रति पल !
आशा के लघु अंकुर
किस सुख से फड़का कर पर
फैलाते नव दल पर दल !
मानव का मन निष्ठुर
सहसा आँसू में झर-झर
क्यों जाता पिघल-पिघल गल ?
मैं चिर उत्कण्ठातुर
जगती के अखिल चराचर
यों मौन मुग्ध किस के बल ?

---

(२)

देखूँ सब के उर की डाली—
किस ने रे क्या क्या चुने फूल
जग के छवि उपवन से अकूल ?
इस में कलि, किसलय, कुसुम, शूल !
किस छवि, किस मधु के मधुर भाव ?
किस रँग, रस, रुचि से किसे चाव ?
कवि से रे किस का क्या दुराव !
किसने ली पिक की विरह-तान ?
किसने मधुकर का मिलन-गान ?
या फुल्ल-कुसुम, या मुकुल-म्लान ?
देखूँ सब के उर की डाली—
सब में कुछ सुख के तरुण-फूल;
सब में कुछ दुख के करुण-शूल;
सुख-दुख न कोई सका भूल ?

———

(३)

क्या मेरी आत्मा का चिर-धन ?
मैं रहता नित उन्मन, उन्मन !
प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर
तृण, तरु, पशु, पक्षी, नर, सुरवर
सुन्दर अनादि शुभ सृष्टि अमर,

निज सुख से ही चिर चंचल-मन,
मैं हूँ प्रति पल उन्मन, उन्मन।

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का,
जीवन के हर्ष-विमर्षों का,
लगता अपूर्ण मानव-जीवन,
मैं इच्छा से उन्मन, उन्मन !

जग जीवन के उल्लास मुझे,
नव-आशा, नव-अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर चिर-विश्वास मुझे;
चाहिए विश्व को नव-जीवन,
मैं आकुल रे उन्मन, उन्मन !

(४)

गाता खग प्रातः उठ कर
सुन्दर, सुखमय जग-जीवन,
गाता खग सन्ध्या-तट पर
मंगल, मधुमय जग-जीवन।
कहती अपलक तारावलि
अपनी आँखों का अनुभव,
अवलोक आँख आँसू की
भर आती आँखें नीरव !

हसमुख प्रसून सिखलाते
पल भर है, जो हँस पाओ,
अपने उर की सौरभ से
जग का आँगन भर जाओ।

उठ उठ लहरें कहतीं यह
हम कूल विलोक न पावें,
पर इस उमंग में बह-बह
नित आगे बढ़ती जावें।

कँप कँप हिलोर रह जाती—
रे मिलता नहीं किनारा!
बुद्बुद् विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा।

---

(५)

विहग, विहग,
फिर चहक उठे ये पुंज पुंज,
कल कूजित कर उर का निकुंज,
चिर सुभग, सुभग!
किस स्वर्ण किरण की करुण-कोर
कर गई इन्हें सुख से विभोर?
किन नव स्वप्नों की सजग-भोर?

हस उठे हृदय के ओर-छोर
जग-जग खग करते मधुर-रोर
मैं रे प्रकाश में गया बोर !

यह रे, किस छवि का मदिर-तीर ?
मधु-मुखर प्राण का पिक अधीर
डालेगा क्या उर चीर-चीर !

बहती रोओं में मलय-वात
स्पन्दित उर, पुलकित पात-गात,
जीवन में रे यह स्वर्ण प्रात !

नव रूप, गन्ध, रँग, मधु मरन्द,
नव आशा, अभिलाषा अमन्द,
नव गीत-गुञ्ज, नव भाव छन्द—

(ये)
विहग विहग
जग उठे, जग उठे पुंज पुंज,
कूजित-गूंजित कर उर-निकुंज
चिर सुभग, सुभग !

———

(६)

जीवन की चंचल सरिता में
फेंकी मैंने मन की जाली,
फँस गईं मनोहर भावों की
मछलियाँ सुघर, भोली-भाली।

मोहित हो कुसुमित पुलिनों से
मैंने ललचा चितवन डाली,
बहु रूप, रंग, रेखाओं की
अभिलाषाएँ देखी-भाली।

मैंने कुछ सुखमय इच्छाएँ
चुन लीं सुन्दर, शोभाशाली,
औ, उनके सोने चाँदी से
भर ली प्रिय प्राणों की डाली।

सुनता हूँ, इस निस्तल जल में
रहती मछली मोती वाली,
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल-जल माली।

आएगी मेरे पुलिनों पर
वह मोती की मछली सुन्दर,
मैं लहरों के तट पर बैठा
देखूँगा उसकी छबि जी भर।

(७)

आज शिशु कवि को अनजान
मिल गया अपना गान।

खोल कवियों ने उर के द्वार
दे दिया उस को छवि का देश;
बजा भौंरों ने मधु के तार
कह दिये भेद भरे सन्देश;

आज सोये खग को अज्ञात
स्वप्न में चौंका गई प्रभात;
गूढ़ संकेतों में हिल पात
कह रहे अस्फुट बात;

आज कवि के चिर चंचल-प्राण
पागए अपना गान!

दूर, उन खेतों के उस पार,
जहाँ तक गई नील-झंकार,
छिपा छाया-वन में सुकुमार
स्वर्ग की परियों का संसार;

वहीं, उन पेड़ों में अज्ञात
चाँद का है चाँदी का वास,
वहीं से खद्योतों के साथ
स्वप्न आते उड़ उड़ कर पास।

इन्हीं में छिपा कहीं अनजान
मिला कवि को निज गान!

['गुञ्जन' से]

मानव

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल-सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम !
यौवन ज्वाला से वेष्टित तन,
मृदु त्वच, सौन्दर्य प्ररोह अङ्ग,
न्योछावर जिन पर निखिल प्रकृति,
छाया प्रकाश के रूप-रंग !

धावित कृश नील शिराओं में
मदिरा से मादक रुधिर धार,
आंखें हैं दो लावण्य-लोक,
स्वर में निसर्ग-संगीत-सार !
पृथु उर, उरोज, ज्यों सर, सरोज,
दृढ़ बाहु प्रलम्ब प्रेम-बन्धन,
पीनोरु स्कन्ध जीवन-तरु के,
कर, पद, अंगुलि, नख-शिख शोभन !

यौवन की मांसल, स्वस्थ गन्ध,
नव युग्मों का जीवनोत्सर्ग !
आह्लाद अखिल, सौन्दर्य अखिल,
आः प्रथम-प्रेम का मधुर, स्वर्ग !

आशाभिलाषा, उच्चाकांक्षा,
उद्यम अजस्र, विघ्नों पर जय,
विश्वास, असद्-सद् का विवेक,
दृढ़ श्रद्धा, सत्य-प्रेम अक्षय !
मानसी भीतियाँ ये अमन्द,
सहृदयता, त्याग, सहानुभूति,
जो स्तम्भ सभ्यता के पार्थिव,
संस्कृति स्वर्गीय,—स्वभाव-पूर्ति !

मानव का मानव पर प्रत्यय,
परिचय, मानवता का विकास,
विज्ञान ज्ञान का अन्वेषण,
सब एक, एक सब में प्रकाश !
प्रभु का अनन्त वरदान तुम्हें,
उपभोग करो प्रतिक्षण नव-नव,
क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि बने रह सको तुम मानव !

['युगांत' से]

ताज

हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !

संग-सौध में हो शृङ्गार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वास-विहीन रहें जीवित जन ?

मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति ! !

प्रेम-अर्चना यही, करें हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल भरें जीवन का प्रांगण ?

शव को दें हम रूप, रंग, आदर मानव का ?
मानव को हम कुत्सित चित्र बनादें शव का ?

गत युग के बहु धर्म-रूढ़ि के ताज मनोहर
मानव के मोहान्ध हृदय में किए हुए घर !

भूल गए हम जीवन का सन्देश अनश्वर
मृतकों के हैं मृतक, जीवितों का है ईश्वर !

['युगान्त' से]

सुमित्रानन्दन पन्त

चींटी

चींटी को देखा ?
वह सरल, विरल, काली रेखा
तम के तागे-सी जो हिल डुल
चलती लघुपद पल पल मिल जुल
यह है पिपीलिका पाँति !
देखो ना, किस भाँति
काम करती वह संतत ?
कन-कन करके चुनती अविरत !
गाय चराती,
धूप खिलाती,
बच्चों की निगरानी करती
लड़ती, अरि से तनिक न डरती,
दल के दल सेना सँवारती,
घर, आँगन, जनपथ बुहारती !
देखो वह वल्मीकि सुघर,
उसके भीतर है दुर्ग, नगर।
अद्‌भुत उसकी निर्माण-कला,
कोई शिल्पी क्या कहे भला !
उसमें हैं सौघ, धाम, जनपथ,
आँगन, गो-गृह, भंडार अकथ;

चींटी

हैं डिम्ब-सद्म, वर शिविर रचित,
ड्योढ़ी बहु, राजमार्ग विस्तृत।
चींटी है प्राणी सामाजिक,
वह श्रमजीवी, वह सुनागरिक!
देखा चींटी को?
उसके जी को?
भूरे बालों की-सी कतरन,
छिपा नहीं उसका छोटापन,
वह समस्त पृथ्वी पर निर्भय
विचरण करती श्रम में तन्मय,
वह जीवन की चिनगी अक्षय!
वह भी क्या देही है, तिल-सी?
प्राणों की रिलमिल-झिलमिल सी?
दिन भर में वह मीलों चलती,
अथक, कार्य से कभी न टलती,
वह भी क्या शरीर से रहती?
वह कण, अणु, परमाणु?
चिर सक्रिय वह, नहीं स्थाणु।
हा मानव!
देह तुम्हारे ही है, रे शव!
तन की चिंता में घुल निशिदिन
देह मात्र रह गए,—दबा तिन!

प्राणि प्रवर
होगए निछावर
अचिर धूलि पर !!
निद्रा, भय, मैथुनाहार
—ये पशु-लिप्साएँ चार —
हुईं तुम्हें सर्वस्व-सार ?
धिक् मैथुन-आहार-यन्त्र !
क्या इन्हीं बालुका-भीतों पर
रचने जाते हो भव्य, अमर
तुम जन-समाज का नव्य तन्त्र ?
मिली यही मानव में क्षमता ?
पशु, पक्षी, पुष्पों से समता ?
मानवता पशुता समान है ?
प्राणिशास्त्र देता प्रमाण है ?
बाह्य नहीं, आंतरिक साम्य
जीवों से मानव को प्रकाम्य ?
मानव को आदर्श चाहिए,
संस्कृति, आत्मोत्कर्ष चाहिए;
बाह्य विधान उसे हैं बन्धन
यदि न साम्य उनमें अंतरतम—
मूल्य न उनका चींटी के सम
वे हैं जड़, चींटी है चेतन !

जीवित चींटी, जीवन-वाहक,
मानव जीवन का वर नायक,
वह स्व-तंत्र, वह आत्म-विधायक !

× × ×

पूर्ण तन्त्र मानव, वह ईश्वर,
मानव का विधि उसके भीतर ?

['युगवाणी' से]

श्रमजीवी

वह पवित्र है : वह, जग के कर्दम से पोषित,
वह निर्माता, श्रेणि, वर्ग, धन, बल से शोषित ।
मूढ़, अशिक्षित,—सभ्य शिक्षितों से वह शिक्षित,
विश्व उपेक्षित,—शिष्ट संस्कृतों से मनुजोचित ।

दैन्य कष्ट कुंठित,—सुंदर है उसका आनन,
गंदे गात वसन हों, पावन श्रम का जीवन ।
स्नेह, साम्य, सौहार्द्यपूर्ण तप से उसका मन,
वह संगठित करेगा भावी भव का शासन ।

भूख प्यास से पीड़ित उसकी भद्दी आकृति
स्पष्ट कथा कहती,—कैसी इस युग की संस्कृति !

वह पशु से जघन्य मानव—मानव की है कृति !
जिसके श्रम से सिंची समृद्धों की पृथु संपति ।

मोह संपदा अधिकारों का उसे न किंचित्,
कार्य कुशल यंत्री वह, श्रम पटुता से जीवित ।
शीत ताप, औ' क्षुधा तृषा में सदा संयमित,
दृढ़ चरित्र वह, कष्ट सहिष्णु, धीर, निर्भय चित ।

लोक क्रांति का अग्रदूत, वरवीर, जनादृत,
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शासक, शासित,—
चिर पवित्र वह : भय, अन्याय, घृणा से पालित,
जीवन का शिल्पी,—पावन श्रम से प्रक्षालित ।

['युगवाणी' से]

कुसुम के प्रति

झर गये हाय, तुम कांत कुसुम !
सब रूप रंग दल गए बिखर,
रह सके न चारु-चिरंतन तुम,
जीवन की मधु-स्मिति गई बिसर !

चुपके-से झर, तुम ने फल को
निज सौंप दिया जीवन, यौवन,
क्षण भर जो पलकों पर झलका
वह मधु का स्वप्न न रहा स्मरण ।

चिर पूर्ण नहीं कुछ जीवन में
अस्थिर है रूप-जगत का मद,
बस आत्म-त्याग, जीवन-विनिमय
इस संधि-जगत में है सुखप्रद।

करुणा है प्राण-वृन्त जग की,
अवलम्बित जिस पर जग-जीवन,
भर देती चिर स्वर्गिक करुणा
जीवन का खोया सूनापन।

करुणा-रंजित जीवन का सुख,
जग की सुन्दरता अश्रु-स्नात,
करुणा ही से होते सार्थक
ये जन्म-मरण, संध्या-प्रभात।

['युगवाणी' से]

वाणी

वाणी, वाणी,
जीवन की वाणी दो मुझको भास्वर।
मौन गगन को भेद
बोलते जिस वाणी में उडुचर,
जिसमें नीरव गिरि से निःसृत
होते मुखरित निर्झर।

जिस वाणी में मेघ गरजते,
लहरा उठते सागर,
जिसमें नित दामिनी दमकती,
मोर नाचते सुन्दर ।
वाणी, वाणी,
मुझे वस्तु-वाणी दो पूर्ण, चिरंतन,
जिस वाणी में छू मलयानिल
पुलकों से भरता तन,
जिसमें मृदु मुख कुसुम खोलते,
अणु-अणु करते नर्तन ।
जिस वाणी में क्षुधा, तृषा
औ' काम दीप्त करते तन,
जिसमें इच्छा, सुखदुख उठते,
आते शैशव, यौवन ।
वाणी, वाणी,
मुझे सृष्टि की वाणी दो अविनश्वर ।
जो बहु वर्ण, गंध, रूपों में
करती सृजन निरन्तर,
जिस वाणी में अनुभव करते
चुपके निखिल चराचर ।
जो वाणी चिर जन्म-मरण,
तम औ' प्रकाश से है पर,

जो वाणी जीवन की जीवन,
शाश्वत, सुंदर, अक्षर।
वाणी, वाणी,
मुझको दो घट घट की वाणी के स्वर।

['युगवाणी' से]

भारत माता

भारत माता
ग्रामवासिनी।
खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आँचल,
गंगा यमुना में आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी।

दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन,
अधरों में चिर नीरव रोदन,
युग युग के तम से विषण्ण मन,
वह अपने घर में
प्रवासिनी।

सुमित्रानन्दन पन्त

तीस कोटि सन्तान नग्न तन,
अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,
नत मस्तक
तरु तल निवासिनी !

स्वर्ण शस्य पर-पद तल लुंठित,
धरती सा सहिष्णु मन कुंठित,
क्रंदन कंपित अधर मौन स्मित,
राहु ग्रसित
शरदेन्दु हासिनी ।

चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमिरांकित,
नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,
आनन श्री छाया-शशि उपमित,
ज्ञान मूढ़
गीता प्रकाशिनी ।

सफल आज उसका तप संयम,
पिला अहिंसा स्तन्य सुधोपम,
हरती जन मन भय, भव तम भ्रम,
जग जननी
जीवन विकासिनी ।

['ग्राम्या' से]

ग्राम चित्र

यहाँ नहीं है चहल पहल वैभव विस्मित जीवन की,
यहाँ डोलती वायु म्लान सौरभ मर्मर ले वन की।
आता मौन प्रभात अकेला, सन्ध्या भरी उदासी,
यहाँ घूमती दोपहरी में स्वप्नों की छाया सी।
यहाँ नहीं विद्युत-दीपों का दिवस निशा में निर्मित,
अँधियाली में रहती गहरी अँधियाली भय-कल्पित।
यहाँ खर्व नर (वानर ?) रहते युग युग से अभिशापित,
अन्न वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि, पङ्क में पालित।
यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित !
झाड़ फूँस के विवर,—यही क्या जीवन शिल्पी के घर ?
कीड़ों से रेंगते कौन ये ? बुद्धि प्राण नारी नर ?
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में,
गृह-गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग में !
यह रवि शशि का लोक : जहाँ हँसते समूह में उडगन,
जहाँ चहकते विहग, बदलते क्षण-क्षण विद्युत्प्रभ घन।
यहाँ वनस्पति रहते, रहती खेतों की हरियाली,
यहाँ फूल हैं; यहाँ ओस, कोकिला, आम की डाली !
ये रहते हैं यहाँ,—और नीला नभ, बोई धरती,
सूरज का चौड़ा प्रकाश, ज्योत्स्ना चुपचाप विचरती !
प्रकृति धाम यह तृण-तृण, कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन्मृत !!

['ग्राम्या' से]

श्रीमती महादेवी वर्मा

परिचय

आप वर्तमान काल के नवीन कवियों में एक विशेष स्थान रखती हैं। आप की कविता में वेदना मुख्य रूप से लक्षित होती है। श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म सं० १९६४ में फरुखाबाद में हुआ। आप के पिता का नाम बाबू गोविंदप्रसाद वर्मा और माता का श्रीमती हेमरानी देवी है। महादेवी जी ने प्रारंभिक शिक्षा इन्दौर में पाई। घर पर आप ने संगीत, चित्रकला आदि की भी शिक्षा प्राप्त की। १०–११ वर्ष की ही उम्र में आपका विवाह डा० रूपनारायण वर्मा के साथ हो गया। सं० १९७७ में आपको शिक्षा प्राप्ति के निमित्त प्रयाग जाना पड़ा, जहां क्रमशः एम० ए० तक की उच्च शिक्षा प्राप्त करली। इन्ट्रेन्स में आप संयुक्त प्रांत भर के विद्यार्थियों में प्रथम रहीं और छात्रवृत्ति तथा हिन्दी-विषय की 'तमीज' प्राप्त की। एम० ए० में आप का विषय संस्कृत था।

बचपन से ही आप तुकबन्दियाँ बनाती, किंतु उन्हें फाड़कर फेंक दिया करती थीं। ज्यों २ आपकी शिक्षा उन्नत होती गई, त्यों २ आपकी कविता में प्रौढत्व आता गया। आपकी प्रारम्भिक

कविताएं 'चांद' में प्रकाशित हुईं; परन्तु फिर अन्य पत्रों–'माधुरी', 'सुधा', 'मनोरमा' आदि––में छपीं। समय २ पर आपको कविताओं के लिए पुरस्कार और प्रशंसापत्र भी मिले हैं। 'मेरा जीवन' नामक कविता पर चांदी का एक कप मिला था। 'नीरजा' पुस्तक पर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से ५००) का 'सक्सेरिया-पारितोषिक' भी मिल चुका है। इस समय आप प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रिंसिपल हैं।

महादेवी जी की कविता

आप के सम्पूर्ण काव्य पर दृष्टि डालने के उपरान्त इस परिणाम पर सहज ही पहुँचा जा सकता है कि अपने आपको प्रेमिका के रूप में रख कर, निर्गुण ब्रह्म को लक्ष्य करके आपने रचनायें लिखी हैं। आपकी कविताओं में झलकने वाली वेदना किसी सांसारिक अभाव की ओर संकेत करती हुई प्रतीत नहीं होती। अलौकिक प्रेम-पात्र के अभाव में अनुभव की जाने वाली व्याकुलता को ही हम आप की रचनाओं में जहाँ-तहाँ देखते हैं। आपकी भिन्न-भिन्न कविताओं में उत्कण्ठा, प्रतीक्षा, खोज, विरह, व्यथा आदि की बड़ी मनोहर झलक दिखाई पड़ती है। श्री महादेवी जी की सभी रचनाओं में गहरी अनुभूति के दर्शन होते हैं, और अनेक अवसरों पर वे आत्मविस्मृत-सी प्रतीत होती हैं। उनकी रचनाओं में कल्पना का भी एकान्त अभाव नहीं है। परन्तु कल्पना प्रायः अनुभूति की अनुगामिनी देख पड़ती है। श्रीमती महादेवी जी प्रारम्भ से ही भावावेश में

बहती हुई प्रतीत होती हैं। उनकी रचनाओं में चिन्तन या विचार प्रायः कहीं विशुद्ध रूप में नहीं मिलता। फलतः कविता बहुत सरस बनी रहती है।

श्रीमती महादेवी जी के काव्य में गहन भावनाएँ मिलती हैं। मानव-जीवन को लक्ष्य में रख कर उन्होंने उसके विभिन्न पहलुओं का वैराग्य-मूलक चित्रण किया है।

यह प्रथम कहा जा चुका है कि इन कवयित्री की कविता में वेदना की प्रधानता है। परन्तु यह वेदना करुणारस से सम्बन्ध नहीं रखती। श्रीमती महादेवी जी की रचना पढ़ते समय, वेदना भाव का उसमें प्राबल्य रहने पर भी—पाठक को आनन्द मिलता है। आप की कविताओं के अन्दर गहन वेदना की प्रतिक्रिया के रूप में सुख की कल्पना भी कहीं-कहीं चमक उठी है। मर्मान्त पीड़ा के साथ-साथ सुख की यह कोमल कल्पना पाठक के प्राणों को जैसे गद्-गद् सा बनाती चलती है।

एक सुप्रसिद्ध आलोचक के शब्दों में श्रीमती महादेवी वर्मा जीवन की कला (कविता) को लेकर हमारे साहित्य में एक निजी संगीत भर रही हैं। 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' उनकी पूर्व-प्रकाशित काव्य-कृतियाँ हैं। 'सांध्य गीत', 'यामा' और 'दीपशिखा' इनकी नवीन कविता-पुस्तकें हैं।

'सांध्य-गीत' में प्रकृति के आँगन में, प्रभात से लेकर सायं-काल तक, वनदेवी की तरह गीत गाने वाली महादेवी की निसर्ग-

सुन्दर, संसार विजन-वेदना से परिपूर्ण है। वह वेदना क्या है ? वह प्रति-दिन के अभाव-अभियोगों का रोना नहीं हैं, क्योंकि हम देखते हैं कि प्रतिदिन का क्रन्दन एक-एक जीवन के साथ समाप्त हो जाता है। उसे ही लेकर रोने गाने के लिए बैठ जाने से जीवन उससे कहीं अधिक दूभर हो जायगा, जितना कि वह अपने क्षणिक जगत् में जान पड़ता है। इस क्षणिक जगत् के सौ-सौ दुःखों का, सौ-सौ सुखों का एक न एक दिन अन्त हो जाता है, किन्तु सृष्टि का क्रम नहीं छूटता। बुद्बुदों की तरह असंख्य प्राणियों के विलीन हो जाने पर भी न जाने किस अज्ञात कक्ष से कौन द्रौपदी के दुकूल की तरह नव-नव जीवन का विस्तार करता जा रहा है, वह मानों विश्व-मानव को पुनः पुनः कुछ समझने के लिए, कुछ गुनने के लिए अवसर पर अवसर देता जा रहा है। एक-एक पार्थिव जीवन की इकाई से मनुष्य उस अज्ञात के अभिप्राय को समझने का प्रयत्न करता है, एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, मानो सब के सब प्राणी एक दूसरे की समझ के पूरक बनते जा रहे हैं। मनुष्यों के ज्ञान-विज्ञान इसी समझ के लिए प्रयत्नशील हैं। किन्तु कवि का प्रयत्न क्या है ? एक गान ! अपने गीतों में वह सहज-सजल होकर उस अनन्त के स्वरूप को उसी प्रकार प्रतिफलित करता है जिस प्रकार सिन्धु आकाश को। हाँ, कवि ज्ञान द्वारा उसे समझने की बजाय गान द्वारा ही उसे अपने हृदय में स्थान दे देता है, वह प्रेमी हो जाता है। कैसा प्रेमी ?—"हेरी मैं तो प्रेम दीवाणी, मेरा दरद

न जाणे कोय !"—महादेवी का कवि-हृदय भी एक ऐसा ही प्रेमी है।

महादेवी ने अपनी कवित्वपूर्ण रुचि से प्रकृति में अपना एक संसार बसाया है। हाँ उन्होंने एक संसार बसाया है—कवि का संसार। उन्होंने कंकड़ चुन-चुन कर वह महल नहीं उठाया जिसके खंडहरों को भी हम न देख सकें। बल्कि उन्होंने एक ऐसा संसार बनाया है जो प्रकृति की तरह निरंतर है, प्रतिदिन के परिवर्तन में भी नितनूतन है, चिर-दृष्ट है। उसका विकास भी नवनिर्माण ही करता है, ऐसा है वह अपार्थिव संसार। अपने मन के भावमय उपकरणों से कवि ने इस संसार को काव्य जगत् में एक मूर्त्त रूप दिया है। उनका संसार मनोराग से अनुरंजित है, जिसका शब्द-चित्र समान अनुभूति द्वारा ही बोधगम्य हो सकता है, कोरे ऐहिक ज्ञान द्वारा नहीं। ऐहिक ज्ञान द्वारा तो हम देखते हैं कि पर्वत, नदी, वन, उपवन, ये सब हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र करते हैं, जैसे हमारे घर की छतें और दीवारें। किन्तु कवि देखता है कि इन सब में पार्थिव वास्तविकता ही नहीं है, बल्कि हमारी अनुभव-गम्य आत्मा की तरह ही इनमें भी जीवन की अनेक सूक्ष्म चेतनाएँ समायी हुई हैं और सम्पूर्ण सृष्टि विभक्त होकर भी एक अखण्ड तार से बँधी हुई है, परस्पर आत्मीयता स्थापित किए है। इसी आत्मीयता की विराट् भूमि पर महादेवी का आत्म-जगत् शोभायमान है। उनकी कविताओं में निखिल प्रकृति का मानवी जीवन के साथ भाव-साम्य हो गया है। मनुष्य ने अपनी संकुचित सीमा पार कर जीवन के प्रवाह का प्रशस्त धरातल पा लिया है।

ऐहिक मनुष्य तो जीवन का केवल एक माध्यम मात्र है, वह देह नहीं, देही है। उसके भीतर जो विदेही है वह शरीर से ही सीमित नहीं बल्कि निसर्ग-व्याप्त है। यही तथ्य भावमय होकर कवि की इन पंक्तियों में संकेत दे रहा है—

सजनि मैं उतनी करुण हूँ,
करुण जितनी रात !

❀

सुभग मैं उतनी मधुर हूँ,
मधुर जितना प्रात !

❀

सजनि मैं उतनी सजल,
जितनी सजल बरसात !

जैसा कि कहा जा चुका है, मनुष्य देह नहीं, देही है; असीम का एक सीमित पैमाना है, किन्तु मनुष्य अपने प्राणित्व को भूल कर देह को ही सब कुछ समझ बैठा है। कवि इस मिथ्या में कैसे भूल सकता है। महादेवी ने शरीर और चेतन, देह और विदेह के सम्बन्ध को इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

वह रहे आराध्य चिन्मय
मृणमयी अनुरागिनी मैं।

❀

रजकणों में खेलती किस
विरज विधु की चाँदनी मैं !

मृण्मय शरीर में जो अविनाशी चेतन बन कर समाया हुआ है, वही 'देह' का देही है, वही आराधनीय है। उसे ही आराध्य बना कर महादेवी ने अपने प्रणय-रूपकों की रचना की है। वह किसी एक देह में सीमित नहीं, वह असीम होकर चारों ओर हमें रिझा खिझा रहा है। अपनी देह में जब हम उस का आभास पाते हैं तब क्षण भर मिलन-सुख से पुलकित हो जाते हैं। जब अपने आप भूल कर उसे दिग-दिगन्त से ग्रहण करना चाहते हैं तब उस की असीमता के प्रति हम विरही हो जाते हैं। यही है महादेवी के कवि का मिलन विरह। 'सान्ध्य गीत' में उनके मिलन की सुखद स्मृतियों और विरह की दुखद घड़ियों के उद्‌गार हैं।

नारी हृदय की सार्वभौम करुणा और सार्वभौम शक्ति लेकर महादेवी ने विश्व के लिये चिरमङ्गल की आराधना की है। सांसारिक जीवन में नारी-हृदय की जो विभूतियाँ बद्ध-सरोवर की भांति अवरुद्ध रहती हैं उन्हें ही महादेवी ने कवि-जीवन में सिंधुवत् प्रशस्त कर दिया है।

वर्तमान हिंदी-कविता में वे रहस्यवाद की एकमात्र कवयित्री हैं। रहस्यवादी कहने के साथ ही हमारे सामने साधक ज्ञानियों का स्वरूप भी आ जाता है, किंतु महादेवी साधक नहीं, आराधक हैं, ज्ञानी नहीं, गायक हैं। अपने कवि को एक शिशु की सी मनःस्थिति में रख कर उन्होंने प्रत्यक्ष जगत् में अप्रत्यक्ष जगत् की सृष्टि की, जो उतना ही मनोहर है जितना कि तरुओं के सुकठिन वस्तु-जगत्

में नव-किसलयों का संसार ! पार्थिव ज्ञान से वह शुष्क नहीं, अपार्थिव दार्शनिकता से वह जटिल नहीं । बल्कि बाल्य-भावना की तरह सहज सुन्दर है । जिस प्रकार परमहंसों के लिये बाल्य भाव शोभन है, उसी प्रकार किसी कवि के लिए भी ।

अपने अनेक गीतों की मार्मिकता से महादेवी जी हाल की पीढ़ी के नवयुवक कवियों का प्रतिनिधित्व कर रही हैं । नवयुवकों ने जिस संवेद्यता से उनकी भाषा और शैली को अपनाया है उससे जान पड़ता है कि गीतों के स्कूल में वे सबसे अधिक लोकप्रिय हुई हैं । उनकी अनेक पंक्तियां काव्य-जगत् में कहावतों की तरह कण्ठस्थ हो गयी हैं ।

उनकी वेदना की जो एक खास भाषा है, वह अपना संगीत अपने आप बनाती है । काव्यशास्त्र की तरह उनके गीत भी उस्तादों के संगीतशास्त्र पर निर्भर नहीं, विशेष क्षणों में वे स्वयं निर्गत हैं । हाँ, संगीत के प्रवाह पर वे जितना ध्यान रखती हैं, उतना काव्य के कुछ साधारण मुलाहिज़ों पर ध्यान नहीं देतीं, असाधारण के लिए वे साधारण को छोड़ देती हैं, जैसे कहीं कहीं उनके तुक 'तुक' न रह कर केवल अन्त्यानुप्रास मात्र रह जाते हैं—

> दृग मेरे दो दीपक झिलमिल,
> भर भर आँसू का स्नेह रहा ढुल,
> सुधि तेरी अविराम रही जल,
> पद-ध्वनि पर आलोक रहूँगी वारती !

इसमें 'मिल' 'ढुल' 'जल' तीनों तीन प्रकार के तुक होकर पद-प्रवाह में अपनी असमता का बोध नहीं होने देते।

महादेवी जी की भाषा में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता रहती है, अनेक कठिनतम शब्द उसमें प्रयुक्त होते हैं। परन्तु कहीं भी वह रूक्ष नहीं है। भाषा की क्लिष्टता के कारण उनकी कविता जहाँ-तहाँ दुरूह अवश्य होती है। आप की अधिकांश रचनायें मधुर भाषा में और गहरे भावों को लिये हुए हैं।

श्रीमती महादेवी वर्मा एक अत्यन्त सफल और भावपूर्ण चित्रकार भी हैं। 'सान्ध्य गीत' और उसके बाद 'दीपशिखा' में उनकी चित्रकला का बहुत अच्छा विकास हुआ है। दीपशिखा में ५१ गीत और ५१ ही चित्र हैं और ये गीत और चित्र आपस में घुलमिल गए हैं।

———

अधिकार

वे मुस्काते फूल नहीं—
जिनको आता है मुरझाना;
वे तारों के दीप नहीं,
जिनको भाता बुझ जाना।

वे नीलम के मेघ नहीं
जिनको है घुल जाने की चाह,
वह अनन्त ऋतुराज नहीं,
जिसने देखी जाने की राह।

वे सूने से नयन नहीं—
जिनमें बनते आँसू-मोती;
वह प्राणों की सेज नहीं
जिसमें बेसुध पीड़ा रोती !

ऐसा तेरा लोक, वेदना
नहीं, नहीं जिसमें अवसाद;
जलना जाना नहीं, नहीं
जिसने जाना मिटने का स्वाद !

× × × ×

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार !

['नीहार' से]

मेरा राज्य

रजनी ओढ़ जाती थी
झिलमिल तारों की जाली:
उसके बिखरे वैभव पर
जब रोती थी उजियाली;

शशि को छूने मचली सी
लहरों का कर कर चुम्बन,
बेसुध तम की छाया का
तटनी करती आलिंगन ।

अपनी जब करुण कहानी
कह जाता है मलयानिल,
आँसू से भर जाता जब
सूखी अवनी का अंचल;

मेरा राज्य

पल्लव के डाल हिंडोले
सौरभ सोता कलियों में,
छिप छिप किरणें आतीं जब
मधु से सींची गलियों में।

आँखों में रात बिता जब
विधु ने पीला मुख फेरा
आया फिर चित्र बनाने
प्राची में प्रात चितेरा;

कन कन में जब छायी थी
वह नव यौवन की लाली,
मैं निरधन तब आयी ले
सपनों से भर कर डाली।

जिन चरणों की नख ज्योति—
ने हीरकजाल लजाये,
उन पर मैंने धुँधले से
आंसु दो चार चढ़ाये!

इन ललचाई पलकों पर
पहरा जब था व्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का!

महादेवी वर्मा

उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते !
आँखों के कोष हुए हैं
मोती बरसा कर रीते;

अपने इस सूनेपन की
मैं हूँ रानी मतवाली,
प्राणों का दीप जला कर
करती रहती दीवाली।

मेरी आहें सोती हैं
इन ओठों की ओटों में,
मेरा सर्वस्व छिपा है
इन दीवानी चोटों में !

चिंता क्या है, हे निर्मम !
बुझ जाये दीपक मेरा;
हो जायेगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अँधेरा !

['नीहार' से]

निश्चय

कितनी रातों की मैंने
नहलायी है अंधियारी;
धो डाली है संध्या के
पीले सेन्दुर से लाली;

नभ के धुंधले कर डाले
अपलक चमकीले तारे,
इन आहों पर तैरा कर
रजनीकर पार उतारे ।

बह गयी क्षितिज की रेखा
मिलती है कहीं न हेरे
भूला सा मत्त समीरण
पागल सा देता फेरे !

अपने उर पर सोने से
लिख कर कुछ प्रेम कहानी,
सहते हैं रोते बादल
तूफ़ानों की मनमानी ।

इन बूंदों के दर्पण में
करुणा क्या झाँक रही है ?
क्या सागर की धड़कन में
लहरें बढ़ आँक रही हैं ?

पीड़ा मेरे मानस से
भीगे पट सी लिपटी है,
डूबी सी यह निश्वासें
ओठों में आ सिमटी हैं।

मुझमें विक्षिप्त झकोरे!
उन्माद मिला दो अपना;
हो नाच उठे जिसको छू,
मेरा नन्हा सा सपना!

पीड़ा टकरा कर फूटे
घूमे विश्राम विकल सा,
तम बढ़े मिटा डाले सब
जीवन कांपे चलदल सा।

फिर भी इस पार न आवे
जो मेरा नाविक निर्मम,
सपनों से बांध डुबाना
मेरा छोटा सा जीवन!

['नीहार' से]

प्रतीक्षा

जिस दिन नीरव तारों से,
बोलीं किरणों की अलकें,
'सो जाओ अलसाई हैं,
सुकुमार तुम्हारी पलकें।'

जब इन फूलों पर मधु की
पहली बूँदें बिखरी थीं,
आँखें पंकज की देखीं,
रवि ने मनुहार भरी सी।

दीपकमय कर डाला जब,
जलकर पतंग ने जीवन,
सीखा बालक मेघों ने
नभ के आँगन में रोदन;

उजियारी अवगुण्ठन में,
विधु ने रजनी को देखा,
तब से मैं ढूँढ़ रही हूँ,
उनके चरणों की रेखा।

मैं फूलों में रोती, वे
बालारुण में मुस्काते:
मैं पथ में बिछ जाती हूँ,
वे सौरभ में उड़ जाते।

वे कहते हैं उनको मैं
अपनी पुतली में देखूं;
यह कौन बता जायेगा,
किसमें पुतली को देखूं?

मेरी पलकों पर रातें
बरसा कर मोती सारे,
कहतीं 'क्या देख रहे हैं,
अविराम तुम्हारे तारे?'

तम ने इन पर अंजन से
बुन बुन कर चादर तानी;
इन पर प्रभात ने फेरा,
आकर सोने का पानी।

इन पर सौरभ की साँसें
लुट लुट जातीं दीवानी,
यह पानी में बैठी हैं,
बन स्वप्न लोक की रानी।

प्रतीक्षा

कितनी बीतीं पतझारें
कितने मधु के दिन आये !
मेरी मधुमय पीड़ा को
कोई पर ढूंढ़ न पाये !

छिप छिप आँखें कहती हैं,
यह कैसी है अनहोनी ?
हम और नहीं खेलेंगी
उनसे यह आँख-मिचौनी ।

अपने जर्जर अञ्चल में
भर कर सपनों की माया,
इन थके हुए प्राणों पर
छायी विस्मृति की छाया !

× × ×

मेरे जीवन की जाग्रति !
देखो फिर भूल न जाना,
जो वे सपना बन आवें
तुम चिरनिद्रा बन जाना !

['नीहार' से]

रश्मि

चुभते ही तेरा अरुण बान !

बहते कन कन से फूट फूट,
मधु के निर्झर से सजल गान ।

इन कनकरश्मियों में अथाह,
लेता हिलोर तम सिंधु जाग;
बुद्बुद् से बह चलते अपार,
उसमें विहगों के मधुर राग;
बनती प्रवाल का मृदुल कूल,
जो क्षितिज-रेख थी कुहर-म्लान ।
नव कुन्द कुसुम से मेघ-पुंज,
बन गए इन्द्रधनुषी वितान;
दे मृदु कलियों की चटक, ताल,
हिम-बिन्दु नचाती तरलप्राण;
धो स्वर्णप्रात में तिमिरगात,
दुहराते अलि निशि-मूक तान ।

सौरभ का फैला केश-जाल,
करतीं समीरपरियाँ विहार;
गीलीकेसर-मद झूम झूम,
पीते तितली के नव कमार;

गीत

मर्मर का मधुसंगीत छेड़—
देते हैं हिल पल्लव अजान !

फैला अपने मृदु स्वप्नपंख,
उड़ गई नींदनिशि क्षितिज-पार ;
अधखुले दृगों के कंजकोष—
पर छाया विस्मृति का खुमार ;

रंग रहा हृदय ले अश्रु हास,
यह चतुर चितेरा सुधिविहान !

['रश्मि' से]

गीत

क्यों इन तारों को उलझाते ?

अनजाने ही प्राणों में क्यों
आ आ कर फिर जाते ?

पल में रागों को झंकृत कर,
फिर विराग का अस्फुट स्वर भर,

मेरी लघु जीवन-वीणा पर
क्या यह अस्फुट गाते ?

लय में मेरा चिर करुणा-घन,
कम्पन में सपनों का स्पन्दन,
गीतों में भर चिर सुख चिर दुख
कण कण में बिखराते !
मेरे शैशव के मधु में घुल,
मेरे यौवन के मद में ढुल
मेरे आँसू स्मित में हिलमिल
मेरे क्यों न कहाते ?

['रश्मि' से]

जीवन दीप

किन उपकरणों का दीपक,
किसका जलता है तेल ?
किसकी वर्त्ति, कौन करता
इसका ज्वाला से मेल ?

शून्य काल के पुलिनों पर—
आकर चुपके से मौन,
इसे बहा जाता लहरों में
वह रहस्यमय कौन ?

कुहरे-सा धूँधला भविष्य है,
है अतीत तम घोर
कौन बता देगा, जाता यह
किस असीम की ओर ?

पावस की निशि में जुगनू का—
ज्यों आलोक-प्रसार,
इस आभा में लगता तम का
और गहन विस्तार।

इन उत्ताल तरंगों पर सह
झंझा के आघात,
जलना ही रहस्य है बुझना
है नैसर्गिक बात।

['रश्मि' से]

मेरा पता

स्मित तुम्हारी से छलक यह ज्योत्स्ना अम्लान,
जान कब पाई हुआ उसका कहां निर्माण ?

अचल पलकों में जड़ी सी तारकायें दीन,
ढूँढती अपना पता विस्मित निमेषविहीन।

गगन जो तेरे विशद अवसाद का आभास,
पूछता 'किसने दिया यह नीलिमा का न्यास'।

निठुर क्यों फैला दिया यह उलझनों का जाल,
आप अपने को जहां सब ढूँढते बेहाल!

काल-सीमा-हीन सूने में रहस्यनिधान!
मूर्तिमत् कर वेदना तुमने गढ़े जो प्राण;

धूलि के कण में उन्हें बन्दी बना अभिराम,
पूछते हो अब अपरिचित से उन्हीं का नाम!

पूछता क्या दीप है आलोक का आवास?
सिन्धु को कब खोजने लहरें उड़ीं आकाश!

धड़कनों से पूछता है क्या हृदय पहिचान?
क्या कभी कलिका रही मकरन्द से अनजान?

क्या पता देते घनों को वारि-बिन्दु असार?
क्या नहीं दृग जानते निज आँसुवों का भार?

चाह की मृदु उँगलियों ने छू हृदय के तार,
जो तुम्हीं में छेड़ दी मैं हूँ वही झंकार!

नींद के नभ में तुम्हारे स्वप्नपावस-काल,
आँकता जिसको वही मैं इन्द्रधनु हूं बाल।

तृप्ति-प्याले में तुम्हीं ने साध का मधु घोल,
है जिसे छलका दिया मैं वही बिन्दु अमोल।

तोड़ कर वह मुकुर जिसमें रूप करता लास,
पूछता आधार क्या प्रतिबिम्ब का आवास ?

ऊर्म्मियों में झूलता राकेश का आभास,
दूर होकर क्या नहीं है इन्दु के ही पास ?

इन हमारे आँसुओं में बरसते सविलास—
जानते हो क्या नहीं किस के तरल उच्छ्वास ?

इस हमारी खोज में इस वेदना में मौन,
जानते हो खोजता है पूर्ति अपनी कौन ?

यह हमारे अन्त उपक्रम यह पराजय जीत,
क्या नहीं रचना तुम्हारी सांस का संगीत ?

पूछते फिर किस लिए मेरा पता बेपीर !
हृदय की धड़कन मिली है क्या हृदय को चीर ?

['रश्मि' से]

---

(१)

मधुर मधुर मेरे दीपक जल !
युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल ;
प्रियतम का पथ आलोकित कर !

सौरभ फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम सा घुल रे मृदु तन,
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल गल!
पुलक पुलक मेरे दीपक जल!

सारे शीतल कोमल नूतन,
माँग रहे तुझ से ज्वाला-कण;
विश्वशलभ सिर धुन कहता मैं,
हाय न जल पाया तुझ में मिल'!
सिहर सिहर मेरे दीपक जल!

जलते नभ में देख असंख्यक;
स्नेहहीन नित कितने दीपक;
जलमय सागर का उर जलता;
विद्युत् ले घिरता है बादल!
विहँस विहँस मेरे दीपक जल!

द्रुम के अंग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयङ्गम;
वसुधा के जड़ अन्तर में भी,
बन्दी है तापों की हलचल!
बिखर बिखर मेरे दीपक जल!

नीरजा से

मेरी निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर;
मैं अंचल से ओट किये हूँ,
अपनी मृदु पलकों से चंचल !
सहज सहज मेरे दीपक जल !

सीमा ही लघुता का बन्धन,
है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन;
मैं दृग के अक्षय कोषों से—
तुझ में भरती हूँ आँसू-जल !
सजल सजल मेरे दीपक जल !

तम असीम तेरा प्रकाश चिर:
खेलेंगे नव खेल निरन्तर:
तमके अणु अणु में विद्युत् सा—
अमिट चित्र अंकित करता चल !
सरल सरल मेरे दीपक जल !

तू जल-जल जितना होता क्षय,
वह समीप आता छलनामय,
मधुर मिलन में मिट जाना तू—
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल खिल !

मदिर मदिर मेरे दीपक जल !
प्रियतम का पथ आलोकित कर !

['नीरजा' से

---

(२)

मुखर पिक हौले बोल !
हठीले हौले हौले बोल !
जाग लुटा देंगी मधु कलियाँ मधुप कहेंगे 'और';
चौंक गिरेंगे पीले पल्लव अम्ब चलेंगे मौर;
समीरण मत्त उठेगा डोल !
हठीले हौले हौले बोल !
मर्मर की वंशी में गूँजेगा मधुऋतु का प्यार;
झर जावेगा कम्पित तृण से लघु सपना सुकुमार;
एक लघु आँसू बन बेमोल !
हठीले हौले हौले बोल !
'आता कौन' नीड़ तज पूछेगा विहगों का रोर;
दिग्वधुओं के घन-घूँघट के चञ्चल होंगे छोर;
पुलक से होंगे सजल कपोल !
हठीले हौले हौले बोल !

२

नीरजा से

वह सपना बन बन आता जागृति में जाता लौट;
मेरे श्रवण आज बैठे हैं इन पलकों की ओट;
व्यर्थ मत कानों में मधु घोल !
हठीले हौले हौले बोल !

भर पावे तो स्वर लहरों में भर वह करुण हिलोर;
मेरा उर तज वह छिपने का ठौर न ढूँढे भोर;
उसे बाँधूँ फिर पलकें खोल !
हठीले हौले हौले बोल !

['नीरजा' से]

---

(३)

दीपक में पतङ्ग जलता क्यों ?
प्रिय की आभा में जीना फिर
दूरी का अभिनय करता क्यों ?
पागल रे पतङ्ग जलता क्यों ?

उजियाला जिसका दीपक में,
तुझ में भी है वह चिनगारी;
अपनी ज्वाला देख अन्य की
ज्वाला पर इतनी ममता क्यों?

गिरता कब दीपक, दीपक में,
तारक में तारक कब घुलता;
तेरा ही उन्माद शिखा में
जलता है फिर आकुलता क्यों?

पाता जड़ जीवन, जीवन से,
तम दिन में मिल दिन हो जाता;
पर जीवन के, आभा के कण,
एक सदा भ्रम में फिरता क्यों?

जो तू जलने को पागल हो,
आँसू का जल स्नेह बनेगा;
धूमहीन निस्पन्द जगत में
जल बुझ, यह क्रन्दन करता क्यों?

दीपक में पतङ्ग जलता क्यों?

['नीरजा' से]

(४)

क्या नई मेरी कहानी !

विश्व का कण कण सुनाता
प्रिय वही गाथा पुरानी !

सजल बादल का हृदय-कण,
चू पड़ा जब पिघल भू पर;
पी गया उस को अपरिचित
तृषित दरका पङ्क का उर;
मिट गई उस से तड़ित् सी
हाय वारिद की निशानी !
करुण वह मेरी कहानी !

जन्म से मृदु कंज-उर में
नित्य पा कर प्यार लालन;
अनिल के चल पंख पर फिर
उड़ गया जब गन्ध उन्मन;
बन गया तब सर अपरिचित
हो गई कलिका बिरानी !
निठुर वह मेरी कहानी !

चीर गिरि का कठिन मानस
बह गया जो स्नेह निर्झर;

ले लिया उसको अतिथि कह,
जलधि ने जब अंक में भर,
वह सुधा सा मधुर पल में
हो गया तब क्षार पानी !
अमिट वह मेरी कहानी !

['नीरजा' से]

---

(५)

दूर घर मैं पथ से अनजान !
मेरी ही चितवन से उमड़ा तम का पारावार ;
मेरी आशा के नव अंकुर शूलों में साकार ;
पुलिन सिकतामय मेरे प्राण !
मेरी निश्वासों से बहती रहती झंझावात;
आंसू में दिनरात प्रलय के घन करते उत्पात,
कसक में विद्युत अन्तर्धान !
मेरी ही प्रतिध्वनि करती पल पल मेरा उपहास ;
मेरी पद-ध्वनि में होता नित औरों का आभास ;
नहीं मुझ से मेरी पहचान ;
दुख में जाग उठा अपनेपन का सोता संसार ;
सुख में सोई री प्रिय-सुधि की अस्फुट सी झंकार,
हो गये सुख दुख एक समान !

बिन्दु बिन्दु ढुलने से भरता उर में सिन्धु महान,
तिल तिल मिटने से होता है चिर जीवन निर्माण;
न सुलझी यह उलझन नादान !

['नीरजा' से]

---

(६)

क्या पूजा क्या अर्चन रे !
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे !
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे !
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जल कण रे !
अक्षत पुलकित रोम, मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे !
स्नेहभरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे !
मेरे दृग के नाटक में नव उत्पल का उन्मीलन रे !
धूप बने उड़ते जाते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे !
प्रिय प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे !

['नीरजा' से]

---

(१)

अश्रु मेरे मांगने जब
नींद में वह पास आया!
स्वप्न-सा हंस पास आया!

हो गया दिन की हंसी से
शून्य में सुरचाप अंकित;
रश्मि-रोमों में हुआ
निस्पन्द तम भी सिहर पुलकित;

अनुसरण करता अमा का
चांदनी का हास आया!

वेदना का अग्निकण जब
मोम से उर में गया बस,
मृत्यु अंजलि में दिया भर
विश्व ने जीवन सुधा-रस!

मांगने पतझर से हिम-
बिन्दु तब मधुमास आया!

अमर सुरभित सांस देकर!
मिट गए कोमल कुसुम झर,
रवि करों में जल हुए फिर
जलद में साकार सीकर

अंक में तब नाश को
लेने अनन्त विकार आया!

['सान्ध्य गीत' से]

(२)

रे पपीहे पी कहाँ ?

खोजता तू इस क्षितिज से उस क्षितिज तक शून्य अम्बर,
लघु परों से नाप सागर;
नाप पाता प्राण मेरे
प्रिय समा कर भी कहां ?

हंस डुबा देगा युगों की प्यास का संसार भर तू,
कण्ठगत लघु बिन्दु कर तू ?
प्यास ही जीवन, सकूँगी
तृप्ति में मैं जी कहां ?

चपल बन बन कर मिटेगी झूम तेरी मेघमाला !
मैं स्वयं जल और ज्वाला !
दीप-सी जलती न तो यह
सजलता रहती कहां ?

साथ गति के भर रही हूँ विरति या आसक्ति के स्वर,
मैं बनी प्रिय-चरण-नूपुर !
प्रिय बसा उर में सुभग !
सुधि खोज की बसती कहां ?

['सान्ध्य गीत' से]

---

(३)

मैं सजग चिर साधना ले !

सजग प्रहरी से निरन्तर,
जगाते अलि रोम निर्झर;
निमिष के बुद्-बुद् मिटा कर,
एक रस है समय-सागर !

हो गई आराध्यमय मैं विरह को आराधना ले !

मूक पलकों में अचंचल,
नयन का जादू भरा तिल;
दे रही हूं अलख अविकल-
को सजीला रूप तिल तिल !

आज वर दो मुक्ति आवे बन्धनों की कामना ले !

विरह का युग आज दीखा,
मिलन के लघु पल सरीखा,
दुःख सुख में कौन तीखा,
मैं न जानी औ' न सीखा !

मधुर मुझ को हो गए सब मधुर प्रिय की भावना ले !

['सान्ध्य गीत' से]

सांध्यगीत से

(४)

झिलमिलाती रात मेरी !

सांस के अन्तिम सुनहले
हास सी चुपचाप आकर,
मूक चितवन की विभा
तेरी अचानक छू गई जब;
बन गई दीपावली तब आंसुओं की पांत मेरी !

अश्रु घन के बन रहे स्मित
सुप्त वसुधा के अधर पर,
कंज में साकार होते
वीचियों के स्वप्न सुन्दर,
मुस्करा दी दामिनी में सांवली बरसात मेरी !

क्यों इसे अम्बर न निज
सूने हृदय में आज भर ले ?
क्यों न यह जड़ में पुलक का,
प्राण सा संचार कर ले ?
है तुम्हारी श्वास के मधु-भार-मन्थर वात मेरी ?

['सान्ध्य गीत' से]

---

(५)

सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी !
प्रिय के अनन्त अनुराग भरी !

किस को त्यागूँ किस को माँगूँ;
है एक मुझे मधुमय विषमय;

मेरे पद छूते ही होते,
काँटे कलियाँ प्रस्तर रसमय !

पालूँ जग का अभिशाप कहाँ
प्रति रोमों में पुलकें लहरीं !

जिन को पथ शूलों का भय हो
वह खोजें नित निर्जन गह्वर;

प्रिय के सन्देशों के वाहक,
मैं सुख दुख भेटूँगी भुजभर,

मेरी लघु पलकों से छलकी
इस कण कण में ममता बिखरी !

अरुणा ने यह सीमन्त भरी,
सन्ध्या ने दी पद में लाली,

मेरे अंगों का आलेपन
करती राका रच दीवाली !

दीपशिखा से

जग के दागों को धो धो कर
होती मेरी छाया गहरी !
पद के विक्षेपों से रज में–
नभ का छाया पथ उतरा,
श्वासों से घिर आती बदली
चितवन करती पतझार हरा !
जब मैं मरु में भरने लाती
दुख से रीती जीवन गगरी !

['सान्ध्य गीत' से]

---

(१)

कहां से आए बादल काले,
कजरारे मतवाले।
शूल-भरा जग धूल-भरा नभ
झुलसी देख दिशाएँ निष्प्रभ,
सागर में क्या सो न सके यह
करुणा के रखवाले ?
आँसू का तन विद्युत का मन,
प्राणों में वरदानों का प्रण,
धीर पदों से छोड़ चले घर
दुख-पाथेय सँभाले।

['दीपशिखा' से]

---

(२)

जो न प्रिय पहचान पाती ।

मेघ पथ में चिन्ह विद्युत के गए जो छोड़ प्रियपद,
जो न उनकी चाप का मैं जानती सन्देश उन्मद,
किस लिए पावक नयन में प्राण में चातक बसाती ?
कल्प युग-व्यापी विरह को एक सिहरन में सँभाले,
शून्यता भर तरल मोती से मधुर सुधि दीप बाले,
क्यों किसी के आगमन के शकुन स्पन्दन में मनाती ?

['दीपशिखा' से]

---

(३)

अलि कहाँ सन्देश भेजूँ, मैं किसे सन्देश भेजूँ ?
एक सुधि अनजान उसकी,
दूसरा पहचान मनकी,
पुलक का उपहार दूँ या अश्रु-भार अशेष भेजूँ ?
चरण चिर पथके विधाता,
उर अथक गति नाम पाता,
अमर अपनी खोज का अब पूछने क्या शेष भेजूँ !
नयन-पथसे स्वप्न में मिल
प्यास में घुल साध में खिल,
प्रिय मुझी में खो गया तो दूतको किस देश भेजूँ !

['दीपशिखा' से]

दीपशिखा से

(४)

सब आँखों में आँसू उजले,
सब के सपनों में सत्य पला।
जिसने उसको ज्वाला सौंपी,
उसने इसमें मकरन्द भरा।
आलोक लुटाता वह घुल-घुल,
देता झर यह सौरभ बिखरा।
दोनों संगी पथ एक मिला,
कब दीप खिला, कब फूल जला?

['दीपशिखा' से]

श्री हरिवंशराय 'बच्चन'

परिचय

पिछले वर्षों में जिन कतिपय नवीन कवियों ने सहसा चमक कर, हिन्दी-जगत् को अपनी मनोहारिणी रचनाओं से मुग्ध कर लिया है उनमें श्रीयुत 'बच्चन' जी प्रमुख हैं। आप का जन्म २७ नवम्बर सन १९०७ को प्रयाग में हुआ था। आप का असली नाम हरिवंशराय है। 'बच्चन' घर पर पुकारने का नाम था। रचनाओं के साथ आप ने अपना यही नाम प्रसिद्ध किया। आप के पिता का नाम बाबू प्रताप नारायण है! आप की शिक्षा म्युनिसिपल स्कूल, कायस्थ पाठशाला, गवर्नमेंट कालिज, प्रयाग-विश्वविद्यालय तथा काशी-विश्वविद्यालय में हुई। १९३० के सत्याग्रह आंदोलन में आप ने युनिवर्सिटी छोड़ दी और तभी से आप के जीवन का संघर्ष काल आरम्भ हुआ। १९३६ में आप की पत्नी का देहावसान हो गया। इस के पश्चात् आप ने फिर से युनिवर्सिटी में आकर अंग्रेजी का एम० ए० किया, रिसर्च की और काशी से बी० टी० की डिग्री भी प्राप्त की आज कल आप इलाहबाद युनिवर्सिटी में अंग्रेजी के अध्यापक हैं। साथ ही अपनी रुचि के अनुसार जीवन-सहचरी पा कर आपने फिर से अपने नीड़का निर्माण कर लिया है।

कविता की ओर आप को बचपन से ही रुचि थी। आप १६३० से बराबर लिखते चले आरहे हैं। 'बच्चन' जी जग, जीवन और काल की कटु विषमताओं और भीषण संघर्षों में हो कर निकले हैं यही कारण है कि आप की जैसी परिस्थितियों में पड़े हुए व्यक्तियों ने आप की वाणी में अपने प्राणों की प्रतिध्वनि पाई है। कई आलोचकों ने इस कवि को वादों में बान्धने का प्रयत्न किया है पर आप का कहना है कि मैं जीवन की समस्त अनुभूतियों को कविता का विषय मानता हूं, लेकिन मेरी अनुभूति में कल्पना और मेरे जीवन में मरण भी संमिलित हैं।

'बचन' जी की कविता

सन् १६३२ में आप प्रसिद्ध फारसी-कवि उमर खय्याम की 'मधुशाला' लेकर अवतीर्ण हुए। आपकी रचनाओं से प्रारम्भ में एकदम खलबली-सी मची, अनेक साहित्यिक विचारकों ने उन्हें हेय, अनुचित और जाति के लिये हानिकारक बतलाया। परन्तु 'बच्चन' जी मस्ती-भरी 'मधुप्याली' का दौर जारी रहा। आपकी इन रचनाओं को यदि सहृदयता और ईमानदारी से जाँचा जाय तो स्वीकार करना पड़ेगा कि वे किसी 'शराब-खोरी' का प्रचार करने के उद्देश्य से नहीं लिखी गयीं। वास्तव में 'मधु', 'प्याला', 'मधुबाला', मधुशाला', ये सब प्रतीक हैं, और उन में जीवन, तथा क्रांति का सन्देश भरा हुआ है। इसी कारण उनसे

युवक हृदयों को कोई बुरी उत्तेजना नहीं मिलती। आप की इन रचनाओं में मादकता, चुलबुलापन, और शोखी जरूर भरी रहती है ! वे किसी ग़मगीन पाठक के हृदय को हरा भरा और प्रफुल्लित कर देने के सामर्थ्य रखती हैं। श्री 'बच्चन' जी की कविताओं में आधुनिक युगके विकराल जीवन-संघर्ष से थकित मानव की मनो-वृत्ति का परिचय मिलता है। 'मधुशाला' इसी मनोवृत्ति की प्रति-क्रिया है। जीवन-संग्राम तथा दौर्भाग्य के द्वारा प्रताड़ित व्यक्ति जब अपने लिए दुनिया में कहीं खोज कर भी विश्राम नहीं पाता तब उसके अन्त-प्रदेश में प्राकृतिक प्रेरणा से एक 'मस्ती' उत्पन्न होती है। वही 'मस्ती' 'बच्चन' जी की कविताओं में झलकी है उनकी रचनाओं में जगह-जगह गहन विचार, निराशा, आत्मविस्मृति की आकांक्षा, उन्माद, विराग, मस्ती आदि के दर्शन होते हैं। आपकी कविताओं की शैली बेहद चोट करने वाली है। भाषा में बनाव-चुनाव न हो कर, वह विषय और भाव का अनुवर्तिनी देख पड़ती है। आपकी वर्तमान रचनायें उज्ज्वल, सरस, गहरे भावों से भरी हुई और हृदय-स्पर्शिनी हैं। आपकी प्रतिभा विकास के पथ पर है। 'बच्चन' जी की प्रारम्भिक कविताओं के संग्रह 'मधुबाला' 'मधुशाला' और 'मधुकलश' नामक तीने संग्रहों के रूप में प्रकाशित हुए हैं।

'बच्चन' जी की प्रथम रचना है 'खय्याम की मधुशाला'। यह मूल-ग्रन्थ फारसी में हैं। अंग्रेजी में भी इसके कई अनुवाद हैं।

'बच्चन' जी ने इसका अंग्रेजी रूपान्तर से हिन्दी में भाषान्तर किया है। किसी दूसरी भाषा की कविता को अपनी भाषा में उसी ढङ्ग से सजाकर जनता के सामने रखना बड़ी चतुरता का काम है। अनुवाद में शब्द-प्रति-शब्द रख देना दूसरी बात है और उसमें सजीवता लाना दूसरी बात। 'बच्चन' जी शब्दों के पीछे नहीं भटके, बल्कि उन्होंने भावों की अतल गहराई में घुसने का प्रयत्न किया है, जैसे जहां फिट्जलेरल्ड ने "**Like wind I came and like water I go,**" (हवा की तरह मैं आया और पानी की तरह गया) शाब्दिक अनुवाद किया वहां अन्य अनुवादकों की तरह 'बच्चन' जी न हवा और पानी का प्रयोग न करके —

"लिये आया था अश्रु-प्रवाह,
छोड़ता जाता हूं उच्छ्वास।"

कहा है, जो मूल से भी अधिक उपयुक्त और मर्मस्पर्शी है। अनुवाद का छन्द मधुर और भाषा प्रवाहपूर्ण है। 'बच्चन' जी का यह अनुवाद सफल हुआ है।

कविता कवि की आत्मा है वह शरीर नहीं है। शरीर को रूप प्रदान किया जा सकता है, आत्मा को नहीं:वह तो अमूर्त है, रस मात्र है। फिर खय्याम तो एक दार्शनिक कवि थे, उनकी कविता का नश्वर शरीर से क्या सम्बन्ध है? वह तो पूर्णतः आत्म-निमज्जित है, उसके रसास्वादन के लिये सुयोग्य अधिकारी चाहिए। जिस तरह दम्भियों द्वारा धर्म की विडम्बना हो सकती है,

उसी प्रकार अनधिकारियों द्वारा किसी सत्काव्य को भी। खय्याम की कविता का सजीव और सफल अनुवाद सरसता पूर्वक करना 'बच्चन' जी की प्रतिभा का पूर्ण प्रमाण है।

उनकी दूसरी पुस्तक है 'मधुशाला'। यह एक मौलिक रचना है, जिसका परिचय स्वयं कवि ने इस प्रकार दिया है:—

भावुकता-अंगूर-लता से खींच कल्पना की हाला,
कवि बनकर है साकी आया, भरकर कविता का प्याला।
कभी न कण भर खाली होगा, लाख पिये दो लाख पिये,
पाठकगण हैं पीनेवाले, पुस्तक मेरी मधुशाला।

इस पुस्तक के नाम से ही घबराने वालों के लिये आगे चलकर कवि ने बड़ी सुन्दर गर्वोक्ति की है:—

बिना पिये जो मधुशाला को बुरा कहे, वह मतवाला,
पी लेने पर तो जायेगा पड़ उसके मुँह पर ताला।
दास द्रोहियों दोनों में है जीत सुरा की, प्याले की,
विश्व-विजयिनी बनकर जग में आई मेरी मधुशाला।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'बच्चन' जी हृदय के यौवन की अनोखी मस्ती लेकर हिन्दी में उतरे हैं और अपनी इस स्वभाविक मस्ती के झुकाव में जो गीत वे सुना रहे हैं, उनका अनोखापन साहित्य में विवाद की वस्तु बन गया है। यह अनहोनी बात नहीं। विवाद से परे 'बच्चन' जी की कविता एक नई दिशा की ओर संकेत

कर रहे हैं। उसमें हिन्दी का पुराना पन नहीं है, यही कारण है कि वे इस विवाद के बीच में भी अपने नए प्रवाह को लेकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सके हैं। 'मधुशाला' की कविता में "बेपिये नशावाली जवानी" की मधुरता है, और आरम्भ से अन्त तक कवि एक ऐसे प्रवाह में गाता चला जाता है कि आप कहीं भी रुकने का नाम न लेंगे। आदि से अन्त तक एक तड़प है। मालूम होता है, कवि के छन्दों में कवि की वेदना और भावुकता सजीव हो उठी है किन्तु वह एक ऐसे प्राणी की भाँति है, जिसकी अवस्था कुछ ऐसी हो कि वह एक अमिट प्यास से विकल होकर भरे हुए प्यालों को देख रहा हो, मगर उन तक पहुँचने के लिए उसके हाथ बँधे हुए हों:—

शान्त हो सकी अब तक साकी पीकर किस उर की ज्वाला;
'और' 'और' की रटन लगाता जाता हर पीने वाला।
कितनी इच्छाएँ हर जाने वाला छोड़ यहाँ जाता,
कितनी अरमानों की बनकर कब्र खड़ी है मधुशाला।

फिर भी—

प्यार नहीं पा जाने में है, पाने के अरमानों में,
पा जाता तब हाय! न इतनी प्यारी लगती मधुशाला।

× × ×

मतवालों की जिह्वा से हैं कभी निकलते शाप नहीं,
दुखी बनाया जिसने मुझको सुखी रहे वह मधुशाला।

पर इस निखिल जगतव्यापी सृष्टि के भीतर कवि का सुकोमल हृदय किस स्थल पर जाकर, चोट खाकर, वेदना से विह्वल होकर रोदन और हाहाकार कर उठता है, उसे भी देखिये:—

किस्मत में था खाली खप्पर, खोज रहा था मैं प्याला;
ढूँढ रहा था मैं मृगनयनी, किस्मत में थी मृगछाला।
किसने अपना भाग्य समझने में मुझ-सा धोखा खाया?
किस्मत में था अवघट-मरघट ढूँढ रहा था मधुशाला।

चाहे हालावाद हो, चाहे छायावाद, चाहे रहस्याद कविता में सर्वत्र भाव प्रधान माना गया है यदि किसी कविता में भाव का मनोरम मधुरिमामय सामंजस्य हो. तो वह सदैव आदरणीय है, क्योंकि काव्य को हमें रस ग्रहण के लिए देखना चाहिए, भावमय चित्रों के लिए अपनाना चाहिए, उससे धर्मशास्त्र की आशा न रखनी चाहिए। 'मधुशाला' का कवि तो अपने हृदय-पथ से ही अपने लक्ष्य की ओर विश्वास पूर्वक चलता है:—

मदिरालय जाने को घर से, चलता है पीने वाला,
किस पथ से जाऊँ असमंजस में है वह भोला भाला।
अलग-अलग पथ बतलाते सब, पर मैं यह बतलाता हूँ,
राह पकड़ तू एक, चला चल, पा जायेगा मधुशाला।

सांसारिक माया-मोह में भटकने वाले मानवों के लिए कितना मधुर आश्वासन है। आप जिस रस में इसे ढाल लें उसी रस में यह सरस लगेगा।

'बच्चन' जी की तीसरी पुस्तक है 'मधुबाला'। इसमें उनके जो मधुर गीत संगृहीत है, उनसे कवि के हृदय की सच्चाई और निश्छल सरलता छलकी पड़ती है। पाँच पुकार की प्रथम और अन्तिम पंक्तियाँ पढ़िये।

गूँजी मदिरालय भर में,
लो, 'पियो- पियो' की बोली।

× × ×

गूँजी मदिरायल भर में,
लो, चलो-चलो' की बोली।

कवि की इन पुकारों में ही संसार के सारे क्रिया-कलाप समाप्त हो जाते हैं। यहाँ शारीरिक रस-राग का भी मिथ्यापन स्पष्ट है।

भौतिक जीवन की क्षणभंगुरता का कितना कटु अनुभव कवि को है, यह निम्न-पंक्तियों से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है:—

कहाँ है अब नृप औरंगजेब
कहाँ उसकी नंगी तलवार
कहाँ अब उसका क्रोध कराल,
कंपा जो देखा था संसार
एक मिट्टी पत्थर की कब्र
ढक रही उसका आज शरीर

बता करती उसका उपहास
बन्द है जिसमें आलमगीर ।

× × ×

किसी ने बनवाया भी ताज
किसी को यदि रखने को याद
न क्या हो जाएगा वह जीर्ण
न क्या हो जायगा बर्बाद
ताज का एक-एक पाषाण
कहा करता दिन रात पुकार—
मुझे खा जायगी दिन एक
इसी यमुना की भूखी धार !'

एक जगह कवि कहता है:—

मैं जग जीवन का भार लिये फिरता हूं,
फिर भी जीवन में प्यार लिये फिरता हूं ।
कर दिया किसी ने झंकृत जिनको छूकर
मैं साँसों के दो तार लिये फिरता हूं ।

मनुष्य होने के नाते कवि मानवीय दुर्बलताओं के प्रति सहानुभूति रखता है और पीड़ाओं को इतना प्यार करने लगता है कि उसे अपनी स्थिति के परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं रह जाती; वह गा उठता है:—

हो नियति इच्छा तुम्हारी
पूर्ण मैं चलता चलूंगा।
भिन्न सभी पथ एक होंगे,
तम घिरे यम के नगर में
हैं कुपथ पर पाँव मेरे,
आज दुनियां की नज़र में।

'बच्चन'जी को हम सदैव अपने प्रति रूखा पाते हैं, यही कारण है कि उनकी कविता में कभी आशा है और कभी निराशा, कभी हास्य और कभी रुदन, कभी आत्म-अविश्वास देखते हैं, और वे बोल उठते हैं:—

बूझ दुनिया यह पहेली
जान कुछ मुझको सकेगी।
हो चुकेगा किन्तु इसके,
पूर्व ही अवसान मेरा।

इतने पर भी—

लौट आया यदि वहाँ से
तो यहां नवयुग लगेगा,
नव प्रभाती गान सुनकर
भाग्य जगती का जगेगा,
शुष्क जगती शीघ्र बदलेगी
सरस चैतन्यता में,

यदि न पाया लौट, मुस्काने,
लाभ जीवन का मिलेगा।
पर पहुँच ही यदि न पाया,
व्यर्थ क्या प्रस्थान होगा?
कर सकूँगा विश्व में फिर,
भी नये पथ का प्रदर्शन।
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमन्त्रण!

'बच्चन' जी का काफ़ी समय तक बहुत अधिक विरोध किया गया, किन्तु 'बच्चन' जी इस विरोधमें उलझे नहीं, बल्कि इस विरोधसे भी, उन्होंने अपने कवित्व के लिए शक्ति ग्रहण की, रूखे-सूखे वाद-विवादों को भी उन्होंने अपने मधुर संगीत में बहा दिया:—

करे कोई निन्दा दिन-रात,
सुयश का पटे कोई ढोल।
किये कानों को अपने बन्द,
रहो बुलबुल डालों पर बोल।

वे अपने किसी विरोधी के लिए कभी तीक्ष्ण नहीं होते, केवल इतना ही पुकार उठते हैं:—

वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी?

'मधुशाला' से पूर्व लिखी गई कवि की रचनाओं का संग्रह 'प्रारम्भिक रचनाएं' नाम से दो भागों में प्रकाशित हो चुका है।

प्रारम्भिक रचनाओं का प्रथम संग्रह 'तेरा हार' सन् १९३२ में प्रकाशित हुआ था। प्रथम भाग में 'तेरा हार' और उसके बाद की २३ कविताएं हैं। 'बच्चन' जी की कविताओं के विकास-क्रम में इन रचनाओं का पर्याप्त महत्त्व है।

इन रचनाओं के बाद 'बच्चन' जी के जीवन का दूसरा अध्याय शुरू होता है। 'निशा निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' में हम बच्चन'जी को एक बिलकुल भिन्न और बहुत ऊँचे कविके रूपमें पाते हैं। इन रचनाओंमें 'बच्चन' जी सचमुच क्रान्तिदृष्टा और विचारक हो उठे हैं।

कवि के मानसिक विकास की इन दो अवस्थाओं के बीच 'मधुकलश' एक कड़ी है, इस की प्रथम पंक्तियाँ हैं—

है आज भरा जीवन मुझ में,
है आज भरी मेरी गागर ।

और अन्तिम पंक्तियां है:—

साँस ठण्डी ले प्रकृति अब
प्राण उस के ले रही है।
हाथ से अपने उसी ने
था जिसे कल तक संवारा,
आज उपवन से हमारे
मिट रहा है गुल हजारा।

इस संग्रह की प्रथम कविता में उस उन्माद की तीव्रतम स्थिति है जिस से 'मधुबाला' ओतप्रोत है और अन्तिम कविता में उस अमवाद का संकेत है जिस से 'निशा निमन्त्रण' का शब्द शब्द बोझल है।

'निशा-निमन्त्रण' के १०० गीत उन्हों ने अपनी धर्मपत्नी के देहावसान के बाद लिखे। इन गीतों में अत्यन्त गहरी करुणा और दार्शनिक निराशा कूट-कूट कर भरी हुई है। कविता की दृष्टि से 'निशा-निमन्त्र' के कुछ गीत हिन्दी साहित्य में सदा अमर रहेंगे।

'एकान्त सङ्गीत' में कवि का निराशावाद 'कर्तव्यवाद' के रूप में प्रकट हुआ है किसी कवि के हृदय में इस की अपेक्षा अधिक स्वस्थ प्रतिक्रिया दूसरी नहीं हो सकती थी। संसार की निराशाओं और दुखों ने कवि में अदम्य आत्म-विश्वास भर दिया है और जैसे वह अकेला ही संसार भर को चुनौती देने खड़ा हो गया है। 'बच्चन' जी का यह विद्रोह गान हिन्दी साहित्य में एकदम नए और मौलिक ढङ्ग का है।

'एकान्त सङ्गीत' लिखते समय कवि को ऐसा अनुभव हुआ कि उन की वाणी आन्तरिक अशांति को व्यक्त करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाती, वरन् विश्व की व्याकुलता को भी व्यक्त करना चाहती है। अतः उन्होंने उस के पश्चात् अपने गीतों को दो

मालाओं में विभक्त कर दिया। आन्तरिक विकलता से सम्बन्ध रखने वाली कविताएं 'आकुल अन्तर' और विश्व की विकलता से सम्बन्ध रखने वाली कविताएं 'विकल विश्व' के नाम से प्रकाशित हुईं। 'आकुल अन्तर' में कवि ने अपना विकास दुर्बलता से दृढ़ता की ओर, निराशा से आशा की ओर और अकर्मण्यता से कर्मण्यता की ओर किया है। 'विकल विश्व' में उस ने विश्व की विकलता, विक्षुब्धता और संघर्ष के साथ अपने आप को एक करके आशा और विश्वास से उस के भविष्य का स्वप्न देखा है।

'सतरङ्गिनी' फुटकर गीतों का संग्रह मात्र न हो कर एक संपूर्ण रचना है। सतरङ्गिनी के सात रङ्गों की समता पर कवि ने भी अपनी रचना के सात भाग किए हैं। प्रत्येक भाग में सात २ कविताएं हैं और एक प्रवेश गीत है—इस प्रकार इस में कुल ५० कविताएं हैं 'सतरंगिनी' की प्रगति निराशा से आशा की ओर, सन्देह से विश्वास की ओर, विरक्ति से अनुरक्ति की ओर और अन्धकार से प्रकाश की ओर हुई है।

'बच्चन' जी की नवीनतम रचनाएं हैं 'बंगाल का काल' और 'हलाहल'। 'बंगाल का काल' कवि की एक नए प्रकार की चीज है। इस में पहली बार आंतरिक अनुभूतियों के कवि ने अपनी आंख बाहर की ओर फेरी है। यहां भी उनकी दृष्टि में मौलिकता है।

'हलाहल' 'मधुशाल' के समान चौपदों का संग्रह है। प्रत्येक पद अपने आप में पूर्ण होते हुए भी क्रमानुसार संपूर्ण रचना के उत्तरोत्तर विकास में सहयोग देता है। इसके १५ पद सरस्वती में सन् १९३६ में प्रकाशित हुए थे। कवि ने अनुभव किया कि मदिरा का स्वाद होठ ही जानते हैं, शरीर के अन्दर इस का प्रकाश और प्रभाव अचिरस्थायी होते हैं। कवि को ऐसी चीज़ की आवश्यकता प्रतीत हुई जो उसे सदा उन्मत्त रख सकती हो। उसके हाथ हलाहल लगी। इसे पी लेने के बाद जीवन की वासना, अभिलाषा, करुणा और मोह कवि को पदच्युत नहीं कर सकेंगे और न ही उसकी तृष्णा उस के जीवन का अभिशाप बनकर उसे सर्वदा भटकते रहने की प्रेरणा कर सकेगी।

लहरों का निमंत्रण

तीर पर कैसे रुकूं मैं,
आज लहरों में निमन्त्रण !

(१)

रात का अन्तिम प्रहर है,
झिलमिलाते हैं सितारे ।
वक्ष पर युग बाहु बाँधे
मैं खड़ा सागर किनारे,
वेग से बहता प्रभञ्जन
केशपट मेरे उड़ाता,
शून्य में भरता उदधि—
उर की रहस्यमयी पुकारें।
इन पुकारों की प्रतिध्वनि,
हो रही मेरे हृदय में ।
है प्रतिच्छायित जहां पर,
सिन्धु का हिल्लोल-कम्पन' ।
तीर पर कैसे रुकूं मैं,
आज लहरों में निमन्त्रण !

(२)

विश्व की सम्पूर्ण पीड़ा
सम्मिलित हो रो रही है,
शुष्क पृथ्वी आँसुओं से
पाँव अपने धो रही है,
इस धरा पर जो बसी दुनिया
यही अनुरूप उस के—
इस व्यथा से हो न विचलित
नींद सुख की सो रही है,
क्यों धरणि अब तक न गल कर
लीन जलनिधि में गई हो ?
देखते क्यों नेत्र कवि के
भूमि पर जड़-तुल्य जीवन ?
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमन्त्रण !

(३)

नेत्र सहसा आज मेरे
तम पटल के पार जा कर
देखते हैं रत्न-सीपी से
बना प्रासाद सुन्दर,

है खड़ी जिस में उषा ले
दीप कुञ्चित रश्मियों का,
ज्योति में जिस की सुनहली
सिन्धु-कन्याएं मनोहर
गूढ़ अर्थों से भरी मुद्रा
बना कर गान करतीं,
और करतीं अति अलौकिक
ताल पर उन्मत्त नर्तन !
तीर पर कैसे रुकूं मैं,
आज लहरों में निमन्त्रण ।

(४)

दीर्घ उर में भी जलधि के
हैं नहीं खुशियाँ समातीं
बोल सकता कुछ न, उठती
फूल बारम्बार छाती ।
हर्ष रत्नागार अपना
कुछ दिखा सकता जगत को,
भावनाओं से भरी यदि
यह फफक कर फूट जाती ।
सिन्धु जिस पर गर्व करता
और जिस की अर्चना को

हरिवंशराय 'बच्चन'

स्वर्ग झुकता, क्यों न उस के
प्रति करे कवि अर्घ्य अर्पण
तीर पर कैसे रुकूं मैं
आज लहरों में निमन्त्रण !

(५)

आज अपने स्वप्न को मैं
सच बनाना चाहता हूं,
दूर की इस कल्पना के
पास जाना चाहता हूं,
चाहता हूं तैर जाना
सामने अंबुधि पड़ा जो
कुछ विभा उस पार की
इस पार लाना चाहता हूं,
स्वर्ग के भी स्वप्न भू पर
देख उन से दूर ही था,
किन्तु पाऊँगा नहीं कर
आज अपने पर नियन्त्रण ।
तीर पर कैसे रुकूं मैं,
आज लहरों में निमन्त्रण

(६)

स्थल गया है भर पथों से
नाम कितनों को गिनाऊँ,
स्थान बाकी है कहां, पथ
एक अपना भी बनाऊँ ?
विश्व तो चलता रहा है
थाम राह बनी बनाई
किन्तु इन पर किस तरह मैं
कवि-चरण अपने बढ़ाऊँ !
राह जल पर भी बनी है,
रूढ़ि, पर, न हुई कभी वह,
एक तिनका भी बना सकता
यहां पर मार्ग नूतन !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमन्त्रण !

(७)

पोत अगणित इन तरंगों ने
डुबाये मानता मैं,
पार भी पहुँचे बहुत से
बात यह भी मानता मैं

किन्तु होता सत्य यदि यह
भी, सभी जल-यान डूबे,
पार जाने की प्रतिज्ञा
आज बरबस ठानता मैं।
डूबता मैं, किन्तु उतराता
सदा व्यक्तित्व मेरा,
हों युवक डूबे भले ही
है कभी डूबा न यौवन।
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमन्त्रण।

(८)

आ रहीं प्राची क्षितिज से
खींचने वाली सदाएँ,
मानवों के भाग्य निर्णायक
सितारो! दो दुआएँ,
नाव, नाविक फेर ले जा,
है नहीं कुछ काम इसका,
आज लहरों से उलझने को
फड़कती हैं भुजायें,
प्राप्त हो उस पार भी इस
पार-सा चाहे अँधेरा,

प्राप्त हो युग की उषा
चाहे लुटाती नवकिरण-धन !
तीर पर कैसे रुकूं मैं
आज लहरों में निमन्त्रण !

['मधुकलश' से]

आत्म-परिचय

मैं जग जीवन का भार लिए फिरता हूँ,
फिर भी जीवन का प्यार लिए फिरता हूँ।
कर दिया किसी ने झंकृत जिनको छू कर,
मैं साँसों के दो तार लिए फिरता हूँ।
मैं निज उर के उद्गार लिए फिरता हूँ,
मैं निज उर के उपहार लिए फिरता हूं।
है यह अपूर्ण संसार न मुझको भाता,
मैं स्वप्नों का संसार लिए फिरता हूँ,
मैं जला हृदय में अग्नि रहा करता हूं,
सुख-दुख दोनों में मग्न रहा करता हूँ।
जग-भव-सागर तरने को नाव बनाए,
मैं मन मौजों पर मस्त बहा करता हूं।

कर यत्न मिटे सब, सत्य किसी ने जाना ?
नादान वही है, हाय ! जहां पर दाना,
फिर मूढ़ न क्या जग जो इस पर भी सीखे,
मैं सीख रहा हूं, सीखा ज्ञान भुलाना।
मैं निज रोदन में राग लिए फिरता हूँ,
शीतल वाणी में आग लिए फिरता हूँ।
हो जिस पर भूपों के प्रसाद निछावर,
मैं वह खँडहर का भाग लिए फिरता हूं।
मैं रोया, इसको तुम कहते हो गाना,
मैं फूट पड़ा, तुम कहते छन्द बनाना।
क्यों कवि कह कर जग मुझको अपनाये,
मैं दुनियां का हूँ एक नया दीवाना।
मैं दीवानों का वेष लिए फिरता हूं।
मैं मादकता नि:शेष लिए फिरता हूं,
जिसको सुनकर जग झूम झुके लहराये,
मैं मस्ती का सन्देश लिए फिरता !

['मधुबाला' से]

———

निशा-निमन्त्रण से

(१)

दिन जल्दी ढलता है !
हो जाय पथ में रात कहीं
मंजिल भी तो है दूर नहीं
यह सोच थका दिन का पंथी भी जल्दी चलता है !
दिन जल्दी जल्दी ढलता है
बच्चे प्रत्याशा में होंगे
नीड़ों से झाँक रहे होंगे—
यह ध्यान परों में चिड़ियों के भरता कितनी चंचलता है !
दिन जल्दी जल्दी ढलता है !
मुझसे मिलने को कौन विकल ?
मैं होऊँ किस के हित चंचल ?
यह प्रश्न शिथिल करता पद को भरता उर में विह्वलता है !
दिन जल्दी जल्दी ढलता है !

['निशा'-निमंत्रण' से]

---

(२)

बीत चली संध्या की वेला !
धुंधली प्रतिपल पड़ने वाली
एक रेख में सिमटी लाली
कहती है, समाप्त होता है सतरंगे बादल का मेला !
बीत चली संध्या की वेला !

नभ में कुछ द्युतिहीन सितारे
मांग रहे हैं हाथ पसारे—
रजनी आए, रवि किरणों से हमने है दिन भर दुख झेला ?
बीत चली संध्या की वेला !

अन्तरिक्ष में आकुल-आतुर
कभी इधर उड़, कभी उधर उड़
पंथ नीड़ का खोज रहा है, पिछड़ा पंछी एक-अकेला ?
बीत चली संध्या की वेला !

['निशा-निमन्त्रण' से]

— —

(२)

तुम तूफान समझ पाओगे ?
नीले बादल, नीले रजकर,
सूखे पत्ते, रूखे तृणघन
लेकर चलता करता 'हरहर'—इसका गान समझ पाओगे ?
तुम तूफान समझ पाओगे ?

गन्ध भरा यह मन्द पवन था,
लहराता इससे मधुवन था,
सहसा इसका टूट गया जो स्वप्न महान, समझ पाओगे ?

तुम तूफान समझ पाओगे ?

तोड़ मरोड़ विटप लतिकाएं,

नोच खसोट कुसुम कलिकाएं

जाता है अज्ञात दिशा को ! हटो विहंगम उड़ जाओगे ।

तुम तुफान समझ पाओगे !

———

(४)

कहते हैं, तारे गाते हैं !

सन्नाटा वसुधा पर छाया,

नभ में हम ने कान लगाया,

फिर भी अगणित कंठों का यह राग नहीं हम सुन पाते हैं !

कहते हैं, तारे गाते हैं !

स्वर्ग सुना करता यह गाना,

पृथ्वी ने तो बस यह जाना,

अगणित ओस-कणों में तारों के नीरव आंसू आते हैं !

कहते हैं तारे गाते हैं !

ऊपर देव, तले मानवगण,

नभ में दोनों गायन-रोदन,

राग सदा ऊपर को उठता, आंसू नीचे झर जाते हैं!
कहते हैं तारे गाते हैं

['निशा-निमन्त्रण' से]

---

(५)

साथी, सो न कर कुछ बात!
बोलते उडुगन परस्पर,
तरु दलों में मन्द 'मरमर'
बात करती सरि-लहरियां कूल से जल स्नात!
साथी, सो न, कर कुछ बात!
बात करते सो गया तू
स्वप्न में फिर खो गया तू
रह गया मैं और आधी बात, आधी रात!
साथी, सो न, कर कुछ बात!
पूर्ण कर दे वह कहानी,
जो शुरू की थी सुनानी
आदि जिस का हर निशा में, अन्त चिर अज्ञात!
साथी, सो न, कर कुछ बात!

['निशा-निमन्त्र' से]

निशा निमन्त्रण से

(६)

रात आधी हो गई है !
जगता मैं आँख फाड़े,
हाय सुधियों के सहारे,
जब कि दुनिया स्वप्न के जादू महल में खो गई है !
रात आधी हो गई है !
सुन रहा हूं, शान्ति इतनी,
है टपकती बून्द जितनी
ओस की, जिनसे द्रुमों का गात रात भिगो गई है !
रात आधी हो गई है !
दे रही कितना दिलासा,
आ झरोखे से जरा-सा
चांदनी पिछले पहर की पास में जो सो गई है !
रात आधी हो गई है !

["निशा-निमन्त्रण" से]

---

(७)

बीते दिन कब आने वाले !
मेरी वाणी का मधुमय स्वर,
विश्व सुनेगा कान लगाकर
दूर गए पर मेरे उर की धड़कन को सुन पाने वाले !

बीते दिन कब आने वाले !

जगत करेगा मेरा आदर,

हाथ बढ़ा कर, शीश नवा कर,

पर न खुलेंगे नेत्र प्रतीक्षा में जो रहते थे मतवाले !

बीते दिन कब आने वाले !

मुझ में है देवत्व जहाँ पर

झुक जायेगा लोक वहां पर

पर न मिलेंगे मेरी दुर्बलता को अब दुलराने वाले !

बीते दिन कब आने वाले !

['निशा-निमन्त्रण' से]

---

(८)

मधुप, नहीं अब मधुवन तेरा !

तेरे साथ खिली जो कलियां

रूप-रंगमय कुसुमावलियां

वे कब की धरती में सोईं, होगा उनका फिर न सवेरा !

मधुप, नहीं अब मधुवन तेरा !

नूतन मुकुलित कलिकाओं पर,

उपवन की नव आशाओं पर

नहीं सोहाता, पागल, तेरा दुर्बल दीन असंगत फेरा !

निशा-निमन्त्रण से

मधुप, नहीं अब मधुबन तेरा !
जहां प्यार बरसा था तुझ पर,
वहां दया की भिक्षा लेकर
जीने की लज्जा को कैसे सहता है, मानी, मन तेरा !
मधुप नहीं अब मधुबन तेरा !

———— ['निशा-निमन्त्रण' से]

(६)

आओ हम पथ से हट जाएं !
युवती और युवक मदमाते
उत्सव आज मनाने आते,
लिये नयन में स्वप्न, वचन में हर्ष, हृदय में अभिलाषाएं !
आओ, पथ से हट जाएं !
इनकी इन मधुमय घड़ियों में
हास-लास की फुलझड़ियों में
हम न अमंगल शब्द निकालें, हम न अमंगल अश्रु बहाएं !
आओ हम पथ से हट जाएं !
यदि इनका सुख सपना टूटे
काल इन्हें भी हम-सा लूटे,
धैर्य बँधाएं, इनके उर को हम पथिकों की करुण कथाएँ !
आओ हम पथ से हट जाएँ !

————

['निशा-निमन्त्रण' से']

(१०)

क्या भूलूं, क्या याद करूँ मैं !
अगणित उन्मादों के क्षण हैं
अगणित अवसादों के क्षण हैं,
रजनी की सूनी घड़ियों को किन किन से आबाद करूँ मैं ?
क्या भूलूँ क्या याद करूँ मैं !
याद सुखों की आंसू लाती,
दुख की, दिल भारी कर जाती,
दोष किसे दूँ जब अपने से अपने दिन बर्बाद करूँ मैं !
क्या भूलूँ, क्या याद करूँ मैं !
दोनों कर के पछताता हूं,
सोच नहीं पर मैं पाता हूं,
स्मृतियों के बन्धन से कैसे अपने को आजाद करूँ मैं !
क्या भूलूँ क्या याद करूँ मैं !

[निशा-निमन्त्रण से']

---

(११)

विश्व को उपहार मेरा !
पा जिन्हें धनपति, अकिंचन,
खो जिन्हें सम्राट निर्धन,

निशा-निमन्त्रण से

भावनाओं से भरा है, आज भी भण्डार मेरा !

विश्व को उपहार मेरा !

थकित, आजा ! व्यथित, आजा !

दलित, आजा ! पतित, आजा !

स्थान किस को दे न सकता स्वप्न का संसार मेरा !

विश्व को उपहार मेरा !

लें तृषित जग होंठ तेरे !

लोचनों का नीर मेरे !

मिल न पाया प्यार जिन को आज उन को प्यार मेरा !

विश्व को उपहार मेरा !

['निशा-निमन्त्रण' से]

— —

(१)

अब मत मेरा निर्माण करो !

तुम ने न बना मुझ को पाया,

युग-युग बीते, मैं घबराया;

भूलो मेरी विह्वलता को, निज लज्जा का तो ध्यान करो !

अब मत मेरा निर्माण करो !

इस चक्की पर खाते चक्कर

मेरा तन मन जीवन जर्जर,

हे कुम्भकार, मेरी मिट्टी को और न अब हैरान करो !
अब मत मेरा निर्माण करो !
कहने की सीमा होती है,
सहने की सीमा होती है,
कुछ मेरे भी वश में, मेरा कुछ सोच-समझ अपमान करो !
अब मत मेरा निर्माण करो !
['एकांत संगीत' से]

---

(२)

मैं जीवन में कुछ कर न सका !
जग में अंधियाला छाया था,
मैं ज्वाला लेकर आया था,
मैंने जल कर दी आयु बिता, पर जगती का तम हर न सका !
मैं जीवन में कुछ कर न सका !
अपनी ही आग बुझा लेता,
तो जी को धैर्य बंधा देता,
मधु का सागर लहराता था, लघु प्याला भी मैं भर न सका !
मैं जी में कुछ कर न सका !
बीता अवसर क्या आएगा,
मन जीवन भर पछताएगा,

मरना तो होगा ही मुझ को, जब मरना था तब मर न सका !
मैं जीवन में कुछ कर न सका !

['एकांत संगीत' से]

---

(३)

तब रोक न पाया मैं आंसू !
जिस के पीछे पागल होकर,
मैं दौड़ा अपने जीवन भर।
जब दृगजल में परिवर्तित हो मुझ पर मेरा अरमान हंसा !
तब रोक न पाया मैं आंसू !
जिस में अपने प्राणों को भर,
कर देना चाहा अजर-अमर,
जब विस्मृति के पीछे छिप कर मुझ पर मेरा वह गान हंसा
तब रोक न पाया मैं आंसू !
मेरे पूजन-आराधन को,
मेरे सम्पूर्ण समर्पण को,
जब मेरी कमजोरी कह कर मेरा पूजित पाषाण हंसा !
तब रोक न पाया मैं आंसू !

['एकांत संगीत' से]

---

(४)

त्राहि त्राहि कर उठता जीवन !

जब रजनी के सूने क्षण में,

तन मन के एकाकीपन में-

कवि अपनी विह्वल वाणी से अपना व्याकुल मन बहलाता !

त्राहि-त्राहि कर उठता जीवन !

जब उरकी पीड़ा से रोकर,

फिर कुछ सोच समझ चुप होकर

विरही अपने ही हाथों से अपने आंसू पोंछ हटाता !

त्राहि-त्राहि कर उठता जीवन !

राही चलते चलते थक कर

बैठ किसी पथ के पत्थर पर

जब अपने ही थकित करों से अपने विथकित पाँव दबाता !

त्राहि-त्राहि कर उठता जीवन !

['एकांत संगीत' से]

———

(५)

तुम्हारा लौह चक्र आया !

कुचल चला अचला के वन घन,

बसे नगर सब, निपट निठुर बन

चूर हुई चट्टान, हार पर्वत की दृढ़ काया ?
तुम्हारा लोह चक्र आया !
अगणित ग्रह-नक्षत्र गगन के
टूट पिसे मरु सिकता कण के
रूप उड़े, कुछ धुंआँ-धुंआँ-सा अम्बर में छाया !
तुम्हारा लोह चक्र आया !
तुम ने अपना चक्र उठाया,
अचरज से निज मुख फैलाया,
दंत-चिन्ह के मानव का जब उस पर पाया !
तुम्हारा लोह चक्र आया !

['एकांत संगीत' से]

---

(६)

अग्नि पथ ! अग्नि पथ ! अग्नि पथ !
वृक्ष हों भले खड़े,
हों घने, हों बड़े,
एक पत्र-छांह भी मांग मत, मांग मत, मांग मत !
अग्नि पथ ! अग्नि पथ ! अग्नि पथ !
तू न थकेगा कभी !
तू न थकेगा कभी !

तू न मुड़ेगा कभी ! कर शपथ, कर शपथ, कर शपथ !
अग्नि पथ ! अग्नि पथ ! अग्नि पथ !
यह महान् दृश्य है—
चल रहा मनुष्य है
अश्रु-स्वेद-रक्त से लथ पथ, लथ पथ, लथ पथ !
अग्नि पथ ! अग्नि पथ ! अग्नि पथ !
['एकांत संगीत' से]

---

(७)

प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर ।
युद्धक्षेत्र के दिखला भुजबल
रह कर अविजित, अविचल, प्रतिपल
मनुज पराजय के स्मारक हैं मठ, मस्जिद, गिरजाघर !
प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर।
मिला नहीं जो स्वेद बहा कर,
निज लोहू से भीग नहा कर,
वर्जित उसको, जिसे ध्यान है, जग में कहलाए नर !
प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर ।
झुकी हुई अभिमानी गर्दन,
बंधे हाथ, मत-निष्प्रभ लोचन ।

यह मनुष्य का चिन्ह नहीं है, पशु का है रे कायर।
प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर।
[एकांत संगीत ' से]

---

(८)

कितना अकेला आज मैं।
संघर्ष में टूटा हुआ,
दुर्भाग्य से लूटा हुआ,
परिवार से छूटा हुआ, कितना अकेला आज मैं!
कितना अकेला आज मैं!
भटका हुआ संसार में
अकुशल जगत व्यवहार में
असफल सभी व्यापार में, कितना अकेला आज मैं।
कितना अकेला आज मैं।
खोया सभी विश्वास है,
भूला सभी उल्लास है,
कुछ खोजती हर सांस है, कितना अकेला आज मैं!
कितना अकेला आज मैं!
[एकांत संगीत से]

एकाकीपन भी तो न मिला ।
मैंने समझा था संगरहित
जीवन के पथ पर जाता हूं,
मेरे प्रति पद की गति-विधि को
जग देख रहा था खोल नयन ।
एकाकीपन भी तो न मिला ।
मैं अपने कमरे के अन्दर
कुछ अपने मन की करता था,
दर-दीवारें चुपके-चुपके
देती थीं जग को आमंत्रण ।
एकाकीपन भी तो न मिला ।
मैं अपने मानस के भीतर
था व्यस्त मनन में, चिंतन में,
साँसें जग कह जाती थीं,
मेरे अन्तर का द्वंद्व-दहन ।
एकाकीपन भी तो न मिला ।

['आकुल अन्तर' से]

---

(१)

यह दीपक है, यह परवाना ।
ज्वाला जगी है, उसके आगे

आकुल अन्तर से

जलनेवालों का जमघट है,
भूल करे मत कोई कहकर,
यह परवानों का मरघट है,
एक नहीं है दोनों मरकर
जल औ जलकर मर जाना।
यह दीपक है, यह परवाना।
(२)
इनकी तुलना करने को कुछ
देख न, हे मन अपने अन्दर,
वहां चिता चिता की जलती,
जलता है तू शव-सा बनकर,
यहां प्रणय की होली में है
खेल जलाना या जल जाना।
यह दीपक है, यह परवाना।
(३)
लेनी पड़े अगर ज्वाला ही
तुझको जीवन में, मेरे मन,
तो न मृतक ज्वाला में जल तू
कर सजीव में प्राण समर्पण,
चिता-दग्ध होने से बेहतर
है होली में प्राण गंवाना!
यह दीपक है, यह परवाना।

[आकुल अंतर से]

(१)

जीवन का यह पृष्ठ पलट, मन !
इसपर जो थी लिखी कहानी,
वह अब तुझको याद जबानी,
बार-बार पढ़कर क्यों इसको
व्यर्थ गँवाता जीवन के क्षण।
जीवन का यह पृष्ठ पलट, मन !

(२)

इसपर लिखा हुआ हर अक्षर,
जमा हुआ है बनकर 'अक्षर'
किंतु प्रभाव हुआ जो तुझपर
उसमें अब करले परिवर्तन।
जीवन का यह पृष्ठ पलट, मन !

(३)

यहीं नहीं यह कथा खतम है,
मन की उत्सुकता दुर्दम है,
चाह रही है देखे आगे,
रोक नहीं तू इसे सकेगा,
यह अदृष्ट का है आकर्षण।
जीवन का यह पृष्ठ पलट, मन !

['आकुल अंतर' से]

आकुल अंतर से

तू एकाकी तो गुनहगार ।
अपने प्रति होकर दयावान
तू करता अपना अश्रु पान,
जब खड़ा मांगता दग्ध विश्व
तेरे नयनों की सजल धार ।
तू एकाकी तो गुनहगार ।

(२)

अपने अंतस्तल की कराह
पर तू करता है त्राहि त्राहि,
जब ध्वनित धरणि पर अंबर में
चिर-विकल विश्व का चीत्कार ।
तू अपने में ही हुआ लीन,

(३)

तू एकाकी तो गुनहगार ।
बस इसीलिए तू दृष्टिहीन,
इससे ही एकाकी-मलीन,
इससे ही जीवन-ज्योति-क्षीण,
अपने से बाहर निकल देख
है खड़ा विश्व बाहें पसार ।
तू एकाकी तो गुनहगार ।

——

['आकुल अंतर से]

गाता विश्व व्याकुल राग।

है स्वरों का मेल छूटा,

नाद उखड़ा ताल टूटा,

लो रुदन का कंठ फूटा,

सुप्त युग-युग वेदना सहसा पड़ी है जाग।

गाता विश्व व्याकुल राग।

वीणा के निज तार कसकर

और अपना साधकर स्वर

गान के हित आज तत्पर

तू हुआ था, किंतु अपना ध्येय गायक त्याग!

गाता विश्व व्याकुल राग।

उंगलियां तेरी रुकेंगी

बज नहीं वीणा सकेगी।

राग निकलेगा न मुख से,

यत्न कर सांसें थकेंगी,

करुण क्रंदन में जगत के आज ले निज भाग।

गाता विश्व व्याकुल राग।

['आकुल अंतर से]

पथ की पहचान

पूर्व चलने के बटोही
बाट की पहचान करले।

(१)

पुस्तक में है नहीं
छापी गई इसकी कहानी,
हाल इसका ज्ञात होता
है न औरों की जबानी,
अनगिनत राही गए इस
राह से, उनका पता क्या
पर गए कुछ लोग इसपर
छोड़ पैरों की निशानी,
यह निशानी मूक होकर
भी बहुत कुछ बोलती है,
खोल इसका अर्थ पंथी
पथ का अनुमान करले,
पूर्व चलने के बटोही
बाट की पहचान करले

हरिवंशराय 'बच्चन'

(२)

यह बुरा है या कि अच्छा,
व्यर्थ दिन इसपर बिताना,
जब असंभव छोड़ यह पथ
दूसरे पर पग बढ़ाना,
तू इसे अच्छा समझ
यात्रा सरल इसमें बनेगी,
सोच मत केवल तुझे ही
यह पड़ा मन में बिठाना
हर सफल पंथी यही
विश्वास ले इसपर बढ़ा है,
तू इस पर आज अपने
चित्त का अवधान करले।
पूर्व चलने के बटोही
बाट की पहचान करले

(३)

है अनिश्चित किस जगह पर
सरित, गिरि गह्वर मिलेंगे,
है अनिश्चित किस जगह पर
बाग, बन सुन्दर मिलेंगे,

किस जगह यात्रा खतम हो
जायगी, यह भी अनिश्चित,
है अनिश्चित, कब सुमन, कब
कंटकों के शर मिलेंगे,
कौन सहसा छूट जाएंगे
मिलेंगे कौन सहसा,
आ पड़े कुछ भी, रुकेगा
तू न, ऐसी आन करले,
पूर्व चलने के बटोही
बाट की पहचान करले।

(४)

कौन कहता है कि स्वप्नों
को न आने दे हृदय में,
देखते सब हैं इन्हें
अपनी उमर, अपने समय में.
और तू कर यत्न भी तो
मिल नहीं सकता सफलता,
ये उदय होते लिए कुछ
ध्येय नयनों के निलय में,

किंतु जग के पंथ पर यदि
स्वप्न दो तो सत्य दो सौ
स्वप्न पर ही मुग्ध मत हो
सत्य का भी ज्ञान करले,
पूर्व चलने के बटोही
बाट की पहचान करले।

(५)

स्वप्न आता स्वर्ग का दृग
कोरकों में दीप्ति आती,
पंख लग जाते पगों को
ललकती उन्मुक्त छाती

रास्ते का एक कांटा
पांव का दिल चीर देता
रक्त की दो बूँद गिरती
एक दुनिया डूब जाती

'आंख में हो स्वर्ग लेकिन
पांव पृथ्वी पर टिके हों
सीख का संमान करले।

पूर्व चलने के बटोही
बाट की पहचान कर ले।
बाट के अनुकूल सारे
साज-साधन से सँवर ले।

['सतरंगिनी' से]

जो बीत गई

(१)

जो बीत गई सो बात गई।
जीवन में एक सितारा था,
माना वह बेहद प्यारा था,
वह डूब गया तो डूब गया,
अंबर के आनन को देखो,
कितने इसके तारे टूटे
कितने इसके प्यारे छूटे,
जो छूट गए फिर कहाँ मिले,
पर बोलो टूटे तारों पर
कब अंबर शोक मनाता है!
जो बीत गई सो बात गई!

(२)

जीवन में वह था एक कुसुम,
थे उस पर नित्य निछावर तुम,
वह सूख गया तो सूख गया,
मधुवन की छाती को देखो,
सूखीं कितनी इसकी कलियाँ,
मुर्झाईं कितनी वल्लरियाँ,
जो मुर्झाईं फिर कहां खिलीं,
पर बोलो सूखे फूलों पर
कब मधुवन शोर मचाता है!
जो बीत गई सो बात गई!

(३)

जीवन में मधु का प्याला था,
तुमने तन-मन दे डाला था,
वह टूट गया तो टूट गया;
मदिरालय का आँगन देखो,
कितने प्याले हिल जाते हैं,
गिर मिट्टी में मिल जाते हैं,
जो गिरते हैं कब उठते हैं,
पर बोलो टूटे प्यालों पर

कब मदिरालय पछताता है !
जो बीत गई सो बात गई !

(४)

मृदु मिट्टी के हैं बने हुए,
मधुघट फूटा ही करते हैं,
लघु जीवन लेकर आए हैं,
प्याले टूटा ही करते हैं,
फिर भी मदिरालय के अन्दर
मधु के घट हैं, मधुप्याले हैं,
जो मादकता के मारे हैं
वह मधु लूटा ही करते हैं,
वह कच्चा पीने वाला है
जिसकी ममता घट-प्यालों पर,
जो सच्चे मधु से जला हुआ
कब रोता है, चिल्लाता है !
जो बीत गई सो बात गई !
जो बीत गई, सो बीत गई !

['सतरंगिनी' से]

हरिवंशराय 'बच्चन'

विश्वास

(१)

पन्थ जीवन का चुनौती
दे रहा है हर कदम पर
आखिरी मंजिल नहीं होती
कहीं भी दृष्टिगोचर,
धूलि से लद, स्वेद से सिच
गई है देह भारी.
कौन-सा विश्वास मुझको
खींचता जाता निरन्तर ?—
पन्थ क्या, पथ की थकन क्या,
स्वेद कण क्या,
दो नयन मेरी प्रतीक्षा में खड़े हैं

(२)

एक भी सन्देश आशा
का नहीं देते सितारे,
प्रकृति ने मंगल शकुन पथ
में नहीं मेरे सँवारे,

विश्वास

विश्व का उत्साह वर्धक
शब्द भी मैंने सुना कब,
किंतु बढ़ता जा रहता हूं
लक्ष्य पर किसके सहारे ?—
विश्व की अवहेलना क्या,
अपशकुन क्या,
दो नयन मेरी प्रतीक्षा में खड़े हैं।

(३)

चल रहा है पर पहुँचना
लक्ष्य पर इसका अनिश्चित,
कर्म कर भी कर्म फल से
यदि रहा यह पांथ वंचित,
विश्व तो उस पर हँसेगा
खूब भूला, खूब भटका !
किंतु गा यह पंक्तियां दो
वह करेगा धैर्य संचित
व्यर्थ जीवन, व्यर्थ जीवन
की लगन क्या,
दो नयन मेरी प्रतीक्षा में खड़े हैं !

(५)

अब नहीं उस पार का भी
भय मुझे कुछ भी सताता,
उस तरफ के लोक से भी
जुड़ चुका है एक नाता,
मैं उसे भूला नहीं तो
वह नहीं भूली मुझे भी,
मृत्यु-पथ पर भी बढ़ूंगा
मोद से यह गुनगुनाता:—
अन्त यौवन, अन्त जीवन
का, मरण क्या,
दो नयन मेरी प्रतीक्षा में खड़े हैं!

['सतरंगिनी' से]

———

बंगाल का काल

वंग भूमि अब
शस्य हीन है,
दीन क्षीण है,
चिर मलीन है,
भरणी आज हो गई हरणी;
जल दे, फल दे और अन्न दे
जो करती थी जीवन दान,
मरघट-सा अब रूप बनाकर,
अजगर-सा अब मुंह फैलाकर
खा लेती अपनी संतान!
बच्चे और बच्चियाँ खाती,
लड़के और लड़किय खाती,
खाती युवक, युवतियाँ खाती,
खाती बूढ़े और जवान,
निर्ममता से एक समान,
वंग भूमि बन गई राक्षसी—

× × ×

दीर्घकाय कुत्ते के आगे
से भी अगर हटा ले कोई
उसकी सूखी हड्डी-रोटी,
शेर की तरह गुर्राता है;
कान खटककर,
देह झटककर,
विद्युत गति से
अपना थूथन ऊपर करके
तीखे, तीखे
दांत निकाले
रोटी लेने वाले की छाती के ऊपर
चढ़ जाता है,
बढ़ जाता है
ले लेने को अपना हिस्सा,
कोता किस्सा:—
पशु को भी आता है अपने
अधिकारों पर लड़ना-मरना,
जो कि आज तुम भूल गए हो,
भूखे बंग देश के वासी!
छाई है मुरदनी मुखों पर,
आंखों में है धँसी उदासी;

विपद् ग्रस्त हो
क्षुधा, त्रस्त हो,
चारों ओर भटकते फिरते,
लस्त-पस्त हो
ऊपर को तुम हाथ उठाते,
और मनाते
'बरसो राम पटापट रोटी !'
क्योंकि सिखाया,
क्योंकि पढ़ाया,
क्योंकि रटाया,
तुम्हें गया है—
'निबल के बल राम !'
(हाय किसी ने क्यों न सुझाया
निर्बल के बल राम नहीं हैं
निर्बल के बल हैं दो घूंसे !)

× × ×

कैसे भूखों के दल के दल
दर-दर मारे-मारे फिरते,
दाने-दाने को बिललाते,
ग्रास-ग्रास के लिए तरसते,
कौर-कौर के लिए तड़पते,

मौत मर रहे हैं कुत्तों की;
अरे नहीं,
कुत्ता भी मरता नहीं इस तरह:
मौत मर रहे हैं कीड़ों की,
या इनसे भी निम्न कोटि की।
(उफ़ मनुष्य के महापतन की
बनी न सीमा!)
और सुना जब मैंने यह भी,
भूखे देखे गए छीनकर
बच्चों से निज रोटी खाते,
या कि बेचते उनको हाटों
में कुछ तांबे के टुकड़ों पर,
जिससे दो दिन और जिएं वे
पशु का जीवन,
और फिरें फिर
घूरों पर,
कूड़ाखानों पर,
और अधिक गंदी जगहों पर,
उत्क्रांत से लेने को यदि
कोई दाना वहां पड़ा हो—
मानवता को निंदित करते,
लज्जित करते
मानव को मानव संज्ञा से
वंचित करते.............

['बंगाल का काल' से

हलाहल

जरा-सी मधु मदिरा में डूब,
सभी सुध-बुध पल भर में भूल,
समय-बंधन से हो स्वच्छन्द
रहा सपनों का झूला झूल!

मगर ओ अभिमानी इन्सान,
दृगों की मोह तमिस्रा त्याग,
उसे भी आँखें खोल निहार
हलाहल का जो तेरा भाग।

गए ये जीवन को जो सींच
प्रवाहित कर मदिरा की धार,
हलाहल उनका ही उपहार
तुझे कैसे होगा इन्कार;

धुला मदिरा से कर अभिषेक
उन्होंने रक्खा तेरा मान,
तुझे रखनी है अपनी शान
कि विष पी मुँह पर से मुसकान।

मगर मन की दुर्बलता, हाय,
बुद्धि के बल पर पाती जीत,
बड़ी ही कठिनाई के साथ
भुलाई जाती पिछली प्रीति,

हलाहल के आगे लो देख
झुका है मेरा विधिवत माथ,
मगर मधु प्याली पर से, हाय !
नहीं हटता है मेरा हाथ।

पकड़ रक्खा मदिरा का पात्र
मगर क्या होना है परिणाम,
भले हो मधु अधरों के पास
मगर हैं दूर गए मधु याम,

और जब दूर गए मधु याम
पड़ा सब पहले का सामान
मगर मधु के अन्दर से, हाय,
गया हो मधुता का अवसान।

हलाहल पीना है तो देख
न आगे क्या होगा परिणाम,
नहीं मुख से बोले अपशब्द,
पिया जब तूने मधु का जाम,

हुई मदिरा कुछ से कुछ और
मिला जब उसको तेरा स्नेह,
हलाहल के प्याले को देख
तुझे क्यों अपने पर संदेह ?

हिचकते औ' होते भयभीत
सुरा को जो करते स्वीकार,
उन्हें वह मस्ती का उपहार
हलाहल बन कर देता मार;

मगर जो उत्सुक-मन, झुक-झूम
हलाहल पी जाते साह्लाद,
उन्हें इस विष में होता प्राप्त
अमर मदिरा का मादक स्वाद।

हलाहल जीवन में क्षय रूप
करेगा पल-पल जीवन क्षीण,
इसे, पर, पीने की अनुभूति
बड़ी ही अद्भुत और नवीन,

रहूं मैं, माना, इससे दूर,
न समझूं इसका मान-महत्व,
मगर मधु पीने ही से कौन
मुझे मिल जाता है अमरत्व।

नहीं मैं यह कहता हूं भूल
कि जब था आमन्त्रित मधु वीच,
नहीं क्यों आकर मुझको मौत
गई ले इस जीवन से खींच

तभी मैं करता यदि प्रस्थान
अधूरा रहता मेरा ज्ञान,
मुझे आया है मधु का स्वाद
हलाहल पी लेने के बाद।

हुई थी मदिरा मुझको प्राप्त
नहीं पर थी वह भेंट, न दान,
अमृत भी मुझको अस्वीकार
अगर कुंठित हो मेरा मान,

दृगों ने मोती की निधि खोल

चुकाया था मधुकण का मोल,
हलाहल आया है यदि पास
हृदय का लोहू दूँगा तोल!

गया जब स्नेह सरोवर सूख
लहरता था जो चारों ओर,
बुझाता जो था मेरी प्यास,
बनाता जो था मत्त-विभोर,

हुई कब तृष्णा कुछ भी न्यून
उसे जीने की साध अटूट,

सुरक्षित रक्खे थी अस्तित्व
हृदय के लोहू का पी घूँट।

हलाहल

हलाहल तो है ऐसा तत्व
कि इससे डरते हैं सुर लोग,
अमरता का जिनको अधिकार,
उन्हें मरने के डर का रोग,

अचम्भे में हूं मैं दिन-रात
मिला क्या है तुझको आधार
कि जो तू हो इतना निर्भीक
हलाहल से करता खिलवाड़ !

['हलाहल' से]